सूक्ति-सरोवर

(पूर्व तट)

जिसमें 'देव', 'प्रकृति', 'ऋतु', 'शृंगार'
और 'मानव' नामक पाँच घाट हैं,
और,
प्रत्येक घाट में
हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों
की अत्यन्त रोचक और चमत्कार-पूर्ण
उक्तियों का संग्रह और उनकी
सरल व्याख्या है।

संग्रहकर्त्ता और व्याख्याता—
लाला भगवानदीन।

प्रकाशक—
नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी० ए०,
मिश्र-बन्धु-कार्यालय,
दीक्षितपुरा, जबलपुर।

पुस्तक मिलने के पते—
(१) मिश्र-बन्धु-कार्यालय,
दीक्षितपुरा, जबलपुर।
या
(२) लाला भगवानदीन,
हिन्दी-साहित्य-विद्यालय, काशी

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ
नवम्बर, सन् १९२२ ई०।

समर्पण।

—:*:—

प्रभो!

दीन की ढिठाई तो देखिये। पय-पयोधि जिसका शयनागार हो, जो भव-पारावार का चतुर कर्णधार हो उसको समर्पण करने के लिये यह तुच्छ सरोवर,उपहार हो! कैसे आश्चर्य की बात है!!

पर, आप रस-सिंधु हैं, दीन-बन्धु हैं। इस सरोवर में कुछ रस है, और 'दीन' का एकत्रित किया हुआ है। इस सम्बन्ध से आपही इसके सुयोग्य पात्र हैं, अत

"यह दीन-कृत रसमय सरोवर आपही के हेतु है"। स्वीकार कर लोगे तो तुम्हारी रसिकता का प्रमाण पुष्टतर हो जायगा, अस्वीकार करोगे तो भी मुझे खेद न सतायेगा, क्योंकि ... तवै कृपम्मुस, के सामने में इस सरोवर की ... ने देखक-ही उन्हें ... ति जानता हूँ।

... करनी होती है। ...

—'दीन'।

... वालों के लिए हमारा ...

वक्तव्य ।

बहुतेरे लोग कह बैठते हैं कि हिन्दी-साहित्य में तो कुछ है ही नहीं। ऐसे फैसले सुनानेवाले जजों में अनेक क्या, सबके सब हिन्दी से अपरिचित, अंग्रेजी पर लट्टू होनेवाले बाबू लोग ही होते हैं। बात भी ठीक है। जिसने शेक्सपियर के अतिरिक्त दूसरे महाकवियों के महा-काव्यों का दर्शन तक नहीं किया है, जिसके लिए मिल्टन की ही रचना अपूर्व है, जिसकी दृष्टि में ब्राउनिंग अथवा शैली की 'फिलासफी' के सामने दूसरा कोई दर्शन ही नहीं अथवा जिसकी समझ में वर्ड्सवर्थ की ही कविता प्राकृतिक-महिमा-पूर्ण है वह यदि ऐसी बात कहे तो इसमें उसका क्या दोष है? ऐसे अनेक प्रोफेसर हैं जो तुलसीदास की रचना को पोप तथा टैनीसन की कविता से तुच्छ समझते हैं। इसके कई कारण हैं जिनमें से एक यह है कि अभी तक हिन्दी में कोई ऐसा संग्रह नहीं हुआ जिसमें उत्तमोत्तम कवियों के सर्वश्रेष्ठ रत्नों का एकत्र समावेश हो। "संस्कृत-कवियों की अनोखी सूझ" की भाँति दो-एक छोटे-मोटे ग्रन्थ अवश्य हैं, परन्तु साहित्य-सागर का पूर्ण मन्थन होना सौ दो सौ पृष्ठों में सम्भव नहीं। इसीलिए बेचारे बाहरवाले कभी कभी ऐसे "सब धान बाईस पसेरी" वाले फैसले सुना दिया करते हैं। क्योंकि सभी तो साहित्य के कूचे कूचे में सैर कर नहीं सकते, दो चार प्रसिद्ध बाजारों को ही देखकर ही उन्हें उस सरस नगर के विषय में धारणा करनी होती है। अतएव उन्हीं लिटरेचर का मज़ा [illegible]-वालों के लिए हमारा यह संग्रह है। बहुत दिनों से

हमें एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अब पाठकों की रुचि से यह पता चलेगा कि हमारा विचार ठीक था कि नहीं।

पाठकों की सुविधा के लिए इस 'सूक्ति-सरोवर' का थोड़ासा पूर्व-परिचय करा देना उचित है। अन्य सांसारिक सरोवरों की भाँति इस सरोवर में भी चार तट हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। यह पुस्तक उसका केवल पूर्व-तट है। इसमें पाँच पवित्र घाट हैं—देव-घाट, प्रकृति-घाट, ऋतु-घाट, शृंगार-घाट तथा मानव-घाट। देव-घाट में प्रसिद्ध कवियों की अनेक-देवता-विषयक चमत्कार-पूर्ण उक्तियाँ हैं। दूसरे घाट में प्राकृतिक दृश्यों के ऊपर रुचिर-उत्प्रेक्षादि-पूर्ण कल्पनाएँ हैं। तीसरे घाट में ऋतुओं के मनोरंजक वर्णन और उनके विषय में आलंकारिक भाव हैं। इसी प्रकार शृंगार-घाट में नख-शिख-वर्णन-सम्बन्धी बढ़िया से बढ़िया कविताएँ हैं। इन सभों में सबसे लाभकारी और रोचक मानव-घाट है, जिसमें मनुष्य-सबन्धी, प्राचीन एवं अर्वाचीन संसार के वर्णनों से परिपूर्ण तथा सामयिक कविताएँ हैं। साहित्यक दृष्टि से भी इस घाट का महत्त्व कम नहीं है। कुछ लोग कहा करते हैं कि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों ने तो कविता-कामिनी को संसार से खदेड़ दिया है। हाली साहब भी मरते २ कह गये थे—"शायरी मर चुकी अब जिन्दा न होगी यारो।", पर नहीं, 'यारो', कविता का युग चला नहीं गया। कविता तो ऐसी नश्वर नायिका है ही नहीं, उसका सौन्दर्य स्वयं

है, उसका सगीत अमर है, उसकी वीणा की झंकार सर्वत्र-व्यापिनी है। न विज्ञान स्रोत उसे बहा सकता है, न लड़ाई की तोपें उसे उड़ा सकती हैं। जबतक मनुष्य में आत्मा है और जबतक वह आत्मा अमर है, तबतक भला कविता कहाँ जा सकती है। यह भले ही हो कि इंजिनों की गड़गड़ाहट के आगे उसका मधुर सगीत कुछ काल तक न सुन पड़े अथवा फैक्टरियों और मिलों के धुएँ के सामने उसका प्रफुल्लित मुख मण्डल क्षण भर न दिख पड़े। पर कलें चली जाँयगी और धुआँ भी हवा में मिल जायगा, परन्तु कविता का साम्राज्य डिगनेवाला नहीं। इसी बात की पुष्टि मानव-घाट की सैर करनेवालों को मिलेगी। हजरत हाली ने इस घाट पर यदि स्नान किया होता तो उन्हें कविता कुलागना से माफी माँगनी पड़ती, क्योंकि वे स्वय जाकर देखते कि वह तो कब्र की ओर से गाती-बजाती, जिन्दा, निकली चली आ रही है। आशा है कि मोटर, बाइसिकिल, घड़ी, ताजमहल तथा कचहरी आदि की कविताएँ हमारे पाठकों को तृप्त करेंगी और यदि कोई भी पाठक काव्य-कला की अनश्वरता में विश्वास करते होंगे तो वे उन्हें रिझायेंगी।

इस सग्रह में प्राचीन से प्राचीन कवियों से लेकर जीवित सज्जनों तक की उक्तियाँ हैं। इन सभी सज्जनों को कोटिश धन्यवाद है। यदि इस सग्रह से पाठकों का मनोरजन एव साहित्य-परिचय अथवा हिन्दी-ससार की कुछ सेवा हो सकी तो इसका श्रेय मुझे नहीं। मेरा काम तो केवल साहित्य के इन सुन्दर सुमनों का सचय मात्र है। कालिदास के कथनानुसार—"मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे

गति' "। हाँ, 'दीन' की हैसियत से दो-चार बिखरे पुष्पों के सुगन्ध का श्रेय मुझे अलबत्ता मिल सकता है। परन्तु यह तो पाठक ही बतला सकते हैं कि उनमें सुगन्ध है और वह उन्हें भाता है कि नहीं।

यदि हिन्दी-संसार को इस तट का निर्माण अच्छा लगा और अन्य तटों पर स्नान करने की आवश्यकता जान पड़ी तो तीन तट भी प्रस्तुत किये जायँगे।

काशी।
कार्त्तिकी पूर्णिमा,
सं० १९७९

—भगवानदीन।

अनुक्रमणिका ।

(१) देव-घाट ।

(२) प्रकृति-घाट ।

(३) ऋतु-घाट ।

(४) शृंगार-घाट ।

(५) मानव-घाट ।



लाला भगवानदीन।

देव-घाट ।

दुनिया में जो अधिकार न कलि-काम का होता।
तो 'दीन' भी एक दास सियाराम का होता॥

—भगवानदीन ।

१—विनय-प्रसङ्ग ।

(१) श्रीगणेश के प्रति ।

लाला भिखारीदासजी कहते हैं—

छप्पय ।

एकरदन, द्वै मातु, त्रिचख, चौबाहु पचकर ।
षट आनन वर बन्धु, सेव्य सप्तार्चि भालधर ॥
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि दानि, दस दिसि जस विस्तर ।
रुद्र एगारह, सुपद द्वादशादित्य ओज वर ॥
जो त्रिदसवृन्द बन्दित चरण चौदहविद्यन आदि गुर ।
तिहि 'दास' पदपदमहू निरखिन, धरिय षोड़शो ध्यान उर ॥१॥

इस वन्दना से 'दास' जी की चतुराई, कल्पना और साहित्यमता का अच्छा पता चलता है। रत्नावली अलङ्कार की कैसी सुन्दर छटा है। गणेशदेव में सोलहों कलाओं की परिपूर्णता को दिखलाने के लिये कितनी कुशीगरी की गई है, इसे विचारवान् भक्त और कवि ही जान सकते हैं। रत्नावली अलङ्कार के निर्वाह के लिये, द्वैमातु, पचकर, सप्तार्चि, त्रिदशवृन्द आदि शब्दों को ढूँढने और बैठाने में कितनी मेहनत और चतुराई दरकार है, इसे विद्वान् ही जान सकते हैं।

(२) श्रीशिव के प्रति।

'दास' जी की इस उक्ति में शिव के प्रति विश्वास और परिकरालंकार की छटा देखिये—

सवैया।

भाल में जाके कलानिधि है वह साहेब ताप हमारो हरैगो।
अंग है जाको विभूति भरो वहै भौन मे संपति भूरि भरैगो॥
घालक है जो मनोभव को मनपातक वाही के जारे जरैगो।
'दासजू' सीसमे गंग धरे रहै ताकी कृपा कहु को न तरैगो॥२॥

जिसके मस्तक पर चन्द्रमा है वह अवश्य ही हमारा ताप (त्रिताप) हरेगा, क्योंकि तापहरण-सामग्री उसीके पास है। जिसका अङ्ग ही विभुति (भस्म और धन) से भरा है वह अवश्य ही हमारे घर में सम्पत्ति भर देगा। मनोभव (काम) को जलाने-वाले शंकर के ही जलाने से हमारा पाप जलेगा। गङ्गाधर की ही कृपा से हम तर सकेंगे।

इष्टदेव के गुणों पर दास का विश्वास न हो तो वह दास ही कैसा ?

अब 'दीन' कवि की उक्ति सुनिये—

कवित्त।

सीतल सरिता गंग सोहै जटाजूट मध्य,
चंद्रमा विराजै सदा भाल हू ललाम में।

जूठे रुद्राच्छ अहि ठाये अंग बिलसत,
हिमजा बिराजि रही नित्य अंग बाम में ॥
बास हिम-सैल पै दिगम्बर रहत नाथ,
व्यापि गई ह्वैहै सीत तन ही तमाम में ।
देर मति करौ अब आय के करौ निवास,
तीन ताप तें तपित 'दीन' हिय-धाम में ॥ ३ ॥

हे शिव! आपके सिर पर गङ्गा और चन्द्रमा हैं। ठण्ढे रुद्राक्ष की मालाएँ और शीतल सर्प तथा हिमजा (पार्वती) अङ्गों में लिपटी हैं। हिमाचल जैसे शीत-प्रधान देश में दिगम्बर होकर रहते हो। हे नाथ! आप अवश्य सर्दी खा गये होंगे। अतः निःसकोच होकर अति शीघ्र मेरे त्रिताप-तपित हृदय में आ जाओ, यहाँ आपको आराम मिलेगा। देखिये, कैसी विलक्षण चतुराई से कवि अपना स्वार्थ-साधन करता है!

---

(३) श्रीकृष्ण के प्रति।

गोसाईं दीनदयालगिरि की चतुराई देखिये—

कुंडलिया।

कारो जमुना-जल सदा बारत हौ घनस्याम।
बिहरत पुंज तमाल के कारे कुंजन ठाम ॥
कारे कुंजन ठाम कामरी कारी धारे।
मोरपखा सिर धरे करे कच कुंचित कारे ॥

बरनै 'दीनदयाल' रँग्यो रँग विषय विकारो।
स्याम राखिये सग म्हि मन मेरो कारो ॥ ४ ॥

यदि तुम्हें काली ही चीजें पसन्द हैं तो मेरा मन भी तो काला है, इसे अपने साथ रखिये। कितनी दीनता, युक्ति और चतुराई से कृष्ण-कृपा की आकांक्षा की गई है।

बिहारीलाल का कमाल देखिये—

दोहा।

करो कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल ॥ ५ ॥

मानव-हृदय की कुटिलता छूट नहीं सकती। कुटिलता रहते हुए भी कृष्ण को हृदय में वास करने के लिये मजबूर करने अथवा राजी कर लेने के लिये बिहारी ने कैसी माकूल दलील की है कि बड़े से बड़े बेरिस्टर के लिये भी अखंड्य है। इसे कमाल कहते हैं।

तुम त्रिभङ्ग हो मैं तुम्हें अपने हृदय में बसाना चाहता हूँ। इसमें बदनामी हो तो हो, पर मैं हृदय की कुटिलता न निकालूँगा। क्योंकि आपको वहाँ रहने में दुख होगा। वाह बिहारी! बड़े गुरु हो।

पद्माकर की उक्ति देखिये—

सवैया।

ए ब्रजचन्द गुविंद गोपाल सुनौ किन केते कलाम किये मैं।
त्यों 'पद्माकर' आनंद के नद हौ नँदनंदन जानि लिये मैं ॥

माखन चोरिकै खोरिन ह्वै चले भागि कछू भय मानि जिये मे।
दूरिहु दौरि दुरयो जो चहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हियेमे ॥६॥

हे कृष्ण! माखनचोरी करके, डर के मारे, यदि कहीं छिपना चाहते हो, तो आओ, मेरे अँधेरे (अज्ञानान्धकार-मय) हृदय में लुक जाओ। तुम व्रजचन्द हो, अत मेरे हृदय में प्रकाश हो जायगा, तुम गोविन्द हो, अत मेरे हृदय की बात जानते हो, तुम गोपाल हो, अत मेरे हृदय को भी पालोगे, क्योंकि हृदय भी एक गो (इन्द्रिय) है। तीनों शब्द कैसे चुने हुए हैं।

एक संस्कृत-कवि भी कहता है—

चीरतारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृत यदि पलायन त्वया।
मानसे मम नितान्त तामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ॥

'दीन' कवि कहता है—

हे कृष्ण! मैं आपसे कम नहीं हूँ। तुम्हारे पास मधुर सुर वाली वशी है, तो मेरे पास भी मधुर-भाषिणी वश-वाली प्यारी (प्यारी कुलागना) है, तुम वन में गाये चराते डोलते थे, तो मैं भी जगत-वन में इन्द्रियों (गो) को चराता फिरता हूँ।

मन्दाक्रान्ता।

वशी प्यारी मधुर सुर की साथ में सोहती है।
वशी-प्यारी मधुर सुर की साथ में सोहती है ॥
धाये धाये सघन वन में घूमते गो चराते।
धाया धाया जगत-वन में घूमता गो चराता ॥ ७ ॥

अत जब आपकी मेरी बराबरी है, तो अपना सा मुकुट, अथवा बशी, कमरी या गुंजमाला मुझको भी दो (अपना रूप—सारूप्यमुक्ति—दो) अथवा यदि आपमें कृपणता आ गई हो, तो लो, मैं ही अपना लालसा (अनुराग-रंजित) चित्त-रूपी हीरा दिये देता हूँ, इसे तुम्हीं ले लो (अपनी कजूसी देखो और मेरी फैयाजी देख लो)। दोनों दशाओं में मेरा तो भला ही है।

मन्दाक्रान्ता।

वंशी दे दो, मुकुट अथवा, कामरी गुंजमाला।
रक्खूँगा मैं हृदय अपने यत्न से, खो न दूँगा॥
ऐसा भावै न यदि तुमको, सूमता आ गई हो।
लो मेरा ही निकट रख लो लालसा चित्त-हीरा॥ ८॥

---

(४) श्रीराम के प्रति।

'दीन' कवि की उक्ति सुनिये—

कवित्त।

कुटिल कठोर है धनुष सम सत्य कही,
बान के समान अति तीखो अनियारो है।
भूपति समुझि कै नजर करे 'दीन कवि',
कीजिये कबूल यह कारज तुम्हारो है॥
चंचल कुबुद्धि कपि तुम्हे अति प्यारे सुने,
या तो उनहून ते चपल अधिकारो है।

कारे कुदरूप भील भालु हू सुहात तुम्हें,
लीजे नाथ साथ मन मेरो अति कारो है ॥८॥

मेरे मन में कुटिलता और कठोरता उसी धनुष की सी है जिसे तुम नित्य धारण किये रहते हो, बाण के समान तीक्ष्ण और नुकीला भी है और बाण ही आपका मुख्य आयुध है। तुम्हें राजा समझकर नजर देता हूँ, इसे कबूल कीजिये। बन्दरों से भी अधिक चचल और कुबुद्धि है। बन्दर आपको प्यारे थे। भील और भालुओं से भी अधिक काला और कुरूप है। जितनी वस्तुएँ तुम्हें प्यारी है, उन सबके गुण मेरे मन में मौजूद हैं, अत इसे अपने सग में रखिये—रखना ही होगा, आपकी प्रिय वस्तुओं से यह भला किस गुण में कम है?

(५) श्रीनारायण के प्रति।

'दीन' कवि की दूसरी उक्ति सुनिये—

कवित्त।

केशव कृपालु एक विनती सुनावै 'दीन',
मानि लीजियो जो नेक चित्त मे तुम्हें सोहाय।
बहुते दिनान तें समुद्र में बसत अहो,
सेज सेसनाग की जो नित्य बहुते जुडाय॥
सागर-सुता हू नित्य दाबत चरन रहै,
कज सरु धारे गये ह्वैहौ बहुते जडाय।

सीत-भीत मेटिबे को बास क्यों न करो आय,
मेरे तीन ताप ते तपित हियरा मे आय ॥ १० ॥

हे कृपालु केशव ! दीन की एक विनती सुन लीजिये। तुम्हारे ही मतलब की बात है, मेरे स्वार्थ की नहीं। तुम बहुत दिनों से समुद्र में रहते हो, शेष की शय्या पर सोते हो, सागर-सुता सेवा में रहती हैं, कज और शख (ठढी वस्तुएँ) हाथ में लिये रहते हो। इस शीतल सामग्री के साथ रहने से आपको सरदी अवश्य लगती होगी। अत. बहुत अच्छा हो जो आप मेरे त्रिताप से सन्तप्त हृदय में आकर वास करे। कैसी युक्तिपूर्ण हमदर्दी और नि स्वार्थता है !

(६) श्रीदुर्गा के प्रति।

'दीन' कवि कहता है—

शार्दूल-विक्रीडित।

तेरा पाणि सरोज एक गहके, व्याली विभूती जटी।
नंगा भगड बावरा विषभखी, मातापिता-हीन भी ॥
पाता है, जगदीश की सु-पदवी होता महादेव है।
तो क्या मै युग-पाद-पद्म गहके हूँगा विभूती न भी ॥११॥

तुम्हारा (एक हाथ पकडकर) पाणिग्रहण करके सर्प लपेटने-वाला, भस्म लगाने-वाला, जटाधारी, नगा,

भंगेडी, पागल, विष खाने-वाला माता-पिता-हीन (बहु-दापी) भी महादेव होकर जगदीश हो गया, तो क्या मैं आपके दोनों चरणों को गहकर विभूती (वैभववान्) भी न हूँगा ?

श्लेष और कथन की युक्ति कैसी कमनीय है ।

---

(७) काम के प्रति ।

गोविन्द गिल्ला भाई जी की उक्ति सुनिये—

कवित्त ।

जाको भय खाय अकुलाय उर मे अपार,
सेवत रमेश रोज लच्छमी ललाम हैं ।
जाको भय पाय उर शंकर सदा ही राखै,
गिरिजा को गोद जग जानत तमाम हैं ॥
जाको भय पाय निज चित्त में सदा ही महा,
सेवत सरस्वती को धाता निज धाम हैं ।
'गोविंद' कहत ऐसे विश्व-विजयी महान
काम को करत हम प्रेम ते प्रनाम हैं ॥ १२ ॥

जिसके भय से श्रीनारायण सदैव लक्ष्मी को अपने निकट ही रखते हैं, शङ्कर गिरिजा को अपने अर्द्धांग ही में धारण किये रहते हैं, और ब्रह्मा भी सरस्वती का सदैव सेवन किया करते हैं—ऐसे महान् विश्व-विजयी कामदेव,

को हमारा सप्रेम प्रणाम है। तात्पर्य यह है कि तुच्छ जीव उसका सामना कैसे कर सकते है ?

"जेहि मारुत गिरिमेरु उडाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं" ॥

(८) परब्रह्म के प्रति।

'रसनिधि' जी करतार (कर्तार) शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

दोहा।

'रसनिधि' तोको कहत हौं याही ते करतार।
रहत निरन्तर जगत को तेरे ही कर तार ॥ १३ ॥

चूंकि संसार भर के जीवों का सत्र तेरे ही हाथों में रहता है (जिसको जैसा चाहता है वैसा नचाता है), इसीसे तेरा नाम करतार है।

निरुक्ति अलङ्कार की कैसी अनूठी छटा है !

२—अहल्या-तारन ।

रामजी की कौतुक-निधानता पर 'दीन' की उक्ति सुनिये—

कवित्त ।

सुनि मुनि कौशिक तें साप को हवाल सबै
बाढी चित करुना की, अजब उमग है।
पद रज डारि करे पाप सब छार करि
नवल सुनारि दियो धाम हू उतग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक ओर
उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु
पद ते उडाई ऋषि-पतनी पतग है॥ १४॥

जिस समय अहल्या-तारन-घटना घटी, उस समय गौतमजी हिमालय पर तप करते थे। श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से अहल्या परी की तरह उडकर उनके पास गई। इस घटना पर कवि कहता है कि कौतुक-निधान होने के कारण रामजी ने निज-पद-रज की डोर बनाई, और ऋषि-पत्नी-रूपी पतग को पैर से उडाया। धूल की रस्सी बनाना और पैर से पतंग उडाना अद्भुत कौतुक-निधानता के कैसे अच्छे प्रमाण हैं!

तुलसीदासजी का चोज और मजाक सुनिये—

सवैया।

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिन नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
कीन्ही भली रघुनायक जू करुणा करि कानन को पगु धारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे॥१५॥

अहल्या-तारन की घटना को लेकर चित्रकूट-निवासी तपस्वी श्रीरामजी का स्वागत करते हुए कैसा मजेदार मज़ाक करते हैं!

'दीन' कवि की पैनी दृष्टि देखिये—

रामजी ने अहल्या को क्यों तारा? इसलिये तारा कि रामजी जनकपुर जा रहे हैं और वहाँ अहल्या के पुत्र सतानन्दजी जनक के पुरोहित हैं। अतः उनसे उचित सहायता मिलैगी।

दोहा।

सतानन्दजी करहिंगे अवसर परे सहाय।
तासु नातु उपकार यह पहिलहि किय रघुराय॥१६॥

इसी घटना पर 'दीन' की दूसरी उक्ति देखिये।

पहले किसी के साथ एहसान करो, तब वह भी समय पाकर उपकार करता है।

दोहा।

सेतुबन्ध दिन करहिंगे पाथर मेरो हेत।
या गुनि श्रीरघुवंशमणि पाथर कियो सचेत ॥१७॥

रामजी ने सोचा कि आगे हमको सेतुबन्ध-समय में पत्थरों से काम लेना होगा। इससे पत्थर के साथ पहले ही एहसान कर रखना चाहिये। यही विचारकर अहल्या-रूपी पत्थर को चैतन्य कर दिया (जड़ से चेतन-रूप दिया)।

कवियों की दृष्टि दूरबीन से कम नहीं होती।

३--कृष्णजी ।

बाबू हरिश्चन्द्र कहते हैं—

दोहा ।

भरित नेह नव नीर नित बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥१८॥

(भावार्थ)—उस अपूर्व घन की जय हो जो नित्य नवीन प्रेम-रूपी जल से भरा रहता है और बहुत रस (आनन्द और पानी) बरसाता है तथा जिसे देखकर मेरा मन-रूपी मयूर आनन्द से उन्मत्त होकर नाचने लगता है।

पर्यायोक्ति, समासोक्ति, रूपक और श्लेष अलकारों की कैसी सुन्दर छटा है कि बुद्धि चकित होती है।

किसी गोपी के मुख से 'रामसहाय' जी कहते हैं—

दोहा ।

अरी होन दे अब हँसी लहर भरी हौं जोय।
हौं वा कारे की दसी तीतौ मीठो होय ॥ १९ ॥

(भावार्थ)—हे सखी, ससारी लोग हँसते हैं तो हँसने दे, कुछ परवाह नहीं, उनकी हँसी भी मुझे अच्छी मालूम होती है। जैसे साँप के काटे हुए व्यक्ति को लहर

(मैर) आती है और वह अचेत हो जाता है, वही दशा मेरी भी है। मुझे उस काले सर्प (कृष्ण) ने काटा है जिसके डसने से कड़ुई वस्तु भी मीठी लगती है।

सर्प के काटे हुए मनुष्य को कटु वस्तु (मिर्च, निम्बू आदि) अस्वाद (जिसमें कोई स्वाद न हो) मालूम होती है, पर मैं उस काले (कृष्ण) की डसी हुई हूँ जिसके विष के प्रभाव से, कटु वस्तु अस्वाद ही नहीं वरन मीठी जान पड़ती है, अत हँसी (निन्दा) होने से क्या होगा, वह हँसी तो मुझे प्रशंसा सी जान पड़ती है।

कितनी बारीकी से व्यतिरेकालंकार का निर्वाह किया गया है, यही बात इसमें गौर करने लायक और खूबी की है।

कोई भक्त श्रीकृष्णजी में दशावतार की झाँकी देखता है। भक्त की विचित्र भावना और कवि की विलक्षण प्रतिभा दोनों का दर्शन कीजिये—

सवैया।

लोचन मीन लसै पग कूरम कोरा धराधर की छवि छाजैं।
ए बलि मोहन साँवरे, राम है दुर्जन राजन को हनि काजै॥
हैं बल मे बल ध्यान नें बुद्ध राखे कलकी विपदा सब भाजै।
मध्य नृसिंह है का हजू में सिगरे अवतारन के गुन राजै॥२०॥

लोचन में मत्स्यावतार, दोनों पग कच्छप और वाराह के समान पृथ्वी को धारण करने वाले हैं (उन्हीं चरणों के प्रताप से पृथ्वी मंगलमय है), साँवले होने के कारण बलिमोहन (वामन) है, दुष्ट राजाओं को हनने से

राम-मय हैं, बल में बलदेव-सम, ध्यान में बुद्ध-रूप हैं, देखने ही से विपत्ति-रूपी म्लेच्छ भागते हैं, अतः कल्की-रूप हैं, और (सिंह की सी पतली) कमर से नृसिंह-रूप हैं। कृष्ण में दशावतार की झाँकी के दर्शन करो और भक्ति का आनन्द लूटो।

लीजिये, श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के दर्शन कीजिये—

सवैया।

पीत कसे कटि में कछनी बनमाल गरे सिर मोर की पाखैं।
गोल कपोलन पै मकराकृति मार अनेकन के मद नाखैं॥
टेरत वेणु कदंब तरे लखि 'दीन' हिये उपजै अभिलाषैं।
या छवि देखन को करतार करौ प्रति रोम हजारन आँखैं॥२१

भावार्थ—कमर में पीताम्बर, गले में वनमाला, सिर पर मोर-पंख का मुकुट विराजता है, गोल कपोलों पर मछली के आकार के कुंडल पड़े हैं। इस मूर्त्ति का सौन्दर्य अनेक कामदेव के सौन्दर्य को लाँघ जाता है (बढ़कर है)। यही मूर्त्ति यमुना-किनारे, कदम्ब-वृक्ष के नीचे, वंशी टेरते हुए देखकर 'दीन' कवि के हृदय में ये अभिलाषायें पैदा होती हैं कि बहुत अच्छा हो यदि ब्रह्मा इस छवि को देखने के लिये प्रति रोम में हजारों आँखे पैदा कर दे।

कितना सौन्दर्य होगा, अनुमान तो कीजिये। अत्युक्ति अलंकार का मज़ा लूटिये।

विहारी ने भी यही झाँकी दिखलाई है—

दोहा।

शीश मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसो सदा विहारीलाल॥

संगति अलंकार की चमक में कवि का व्यंग देखिये—

दोहा।

जैसे को तैसो मिलै तब ही जुरत सनेह।
ज्यो त्रिभङ्ग तन श्याम त्यो कुटिल कूबरी देह॥ २२॥

भावार्थ—जैसे को तैसा मिलता है तभी तो प्रेम जुड़ता है। कृष्ण का प्रेम यदि कुबरी के प्रति हुआ तो आश्चर्य क्या, क्योंकि कुबरी तो एक कमर ही से टेढ़ी है, कृष्ण तो तीन जगह से टेढ़े हैं। पति में पत्नी से कुछ अधिक ही गुण होने चाहिये।

'ठाकुर' कवि कृष्ण को क्या समझते हैं सो भी मुलाहिजा कीजिये —

कवित्त।

ग्वारन को यार हैं सिंगार सुख सोभन को
साँचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देखि अपनो बखत लेखि
आनँद बिसेष रूप अकह कहानी को॥
'ठाकुर' कहत साँचो प्रेम के प्रसंग वारो
जा लखि अनंग अंग रंग दधिदानी को।
पुन्य नंद जू को अनुराग ब्रजबासिन को
भाग जसुमति को सोहाग राधा रानी

व्रज के ग्वालों का मित्र है, सुख और शोभाओं का सिंगार है, तीनों लोकों का सच्चा राजा है, गायों के साथ देखकर मैं अपना सौभाग्य ही समझकर इस कारण विशेष आनन्दित हुआ कि उसका रूप एक अकथनीय कहानी है। वह सच्चे प्रेम को जानने वाला है, उसको देखकर कामदेव का शरीर ऐसा जान पडता है मानो उसी दधिदानी के अंग के धोवन का रंग हो। वह कृष्ण नन्दजी के पुण्य का, व्रजवासियों के अनुराग का, यशोदा के भाग्य का और राधाजी के सौभाग्य का अन्य रूप ही है।

कृष्ण के विषय में 'दीन' के अनुमान सुनिये। 'ठाकुर' ने तो निश्चय कर लिया है, पर 'दीन' कवि निश्चय नहीं कर सका। यदि निश्चय हो जाय तो महिमा का अन्त हो जाय। अत 'ठाकुर' की उक्ति से यह उक्ति अच्छी है—

कवित्त।

नद की नसीब कै तवीब भवरोगन को
कैधों यह मूरति है पारस बडाई की।
गोपिन को प्रेम किधौं नेम ब्रजबासिन को
छेम हरिभक्तन की प्रतिमा सोहाई की॥
आरत कृपाल किधौं काल कस भूपति को
'दीन' प्रतिपालकता किधौं रघुराई की।
किधौं रसराज आज रूप धरि राजि रह्यो
मूरति सोहाई किधौं कुँवर कन्हाई की॥ २४॥

कवि अनुमान करता है कि यह कृष्ण-मूर्त्ति है,

या नन्दजी का सौभाग्य है, या भव रोग (जन्म-मरण) का वैद्य (तबीब) है, या अर्जुन की कीर्ति की मूर्त्ति है, या गोपियों का मूर्त्तिमान प्रेम ही है, या ब्रजवासियों का व्रत ही है, या भक्तों के क्षेम-कुशल की प्रतिमा है, या दुखियों पर कृपा करनेवाला कोई व्यक्ति है, या कंस का काल है, या रामजी की दीन-प्रतिपालकता है, या स्वयं शृंगार ही मूर्त्तिमान है।

कृष्ण को देखकर सब प्रतिभा रफूचक्कर हो गई, कुछ अनुमान में नहीं आता कि क्या कहें। सदेहालंकार का कैसा सुन्दर उपयोग है!

'रसनिधि' जी कहते हैं कि कृष्ण कितने सुन्दर हैं—

दोहा।

मदन कहन यासो लगे तब ते चतुर बिचारि।
हरो गयो याको सुमद मोहन बदन निहारि ॥ २५ ॥

मोहन (कृष्ण) की सुन्दर मुख-छवि देखकर जब से काम का मद हरा गया तब से चतुर लोगों ने विचार कर काम का नाम मदन (मद+न) रखा दिया है। इसी से कृष्ण की अनन्त सुन्दरता का पता चलता है। निरुक्ति अलंकार की छटा है।

'मोहन' शब्द पर भी 'रसनिधि' की निरुक्ति की छटा देख लीजिये—

दोहा।

मोहन तेरे नाम की काढी वा दिना छोर।
ब्रजबासिन को छोर कै चले मधुपुरी ओर ॥ २६ ॥

हे मोहन (मोह+न), तुम्हारे नाम का तो उसी दिन मुझे अन्त मिल गया था जिस दिन व्रज-वासियों को छोड़कर तुम मथुरा की ओर चले थे। सबका मोह छोड़कर चले गये, अत (मोह+न) मोहन तुम्हारा नाम ठीक ही है।

इतने निर्मोही होने का कारण भी 'रसनिधि' स्वय बतलाते हैं—

दोहा।

सुमिरत जिनके चरन को मोह जगत कौ जात।
निरमोही जो होय वा का अचरज की बात ॥२७॥

जिसके चरणों का स्मरण करते ही ससार का मोह छूट जाता है वह स्वय यदि इतना निर्मोही हो तो कौन आश्चर्य की बात है।

कृष्ण अपने भक्तों के चित्त चुरा लेते हैं। इस पर 'रसनिधि' कहते हैं—

दोहा।

अँधियारी निसि कौ जनम कारे कान्ह गुवाल।
चितचोरी जो करत हौ कहा अचभौ लाल ॥२८॥

एक तो भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की रात्रि का जन्म, दूसरे स्वयं काले और जाति के ग्वाल (गँवार), फिर हे लाल! यदि आप चित्तचोरी करते हैं तो आश्चर्य क्या है (करना ही चाहिये), चोर का काले रग से विशेष सबध है।

काले रग से रुष्ट होकर 'दीन' कवि मनादी करते हैं—

कुंडलिया।

कारे रँगवारे सबै महा नकारे होत।
　　बहुरगी रसिया अली छली कोकिलया गोत॥
छली कोकिलया गोत भुजगम केचुल त्यागै।
　　जतन अनेकन किये न पुनि सो तेहिँ अनुरागै॥
'दीन' भनै तजि प्रीति स्याम मधुपुरी सिधारे।
　　कारेन की परतीत नहीँ यह कहत पुकारे॥ २९॥

मैं पुकार कर कहता हूँ कि काले रंग वालों पर कदापि विश्वास न करना, क्योंकि काले रग वाले सभी जीव बडे बुरे होते हैं। देखो, अलि (भौंरा) रसिक होकर भी बहुरगी (बहुतों से प्रीति करनेवाला) है, कोकिल-गोत्र छली है (धोखे से अपने बच्चों को कौओं से पलवाता है), काला सर्प केचुल (अपने ही अग का एक अश) छोडकर फिर उससे प्रेम नहीं करता, कृष्ण भी ब्रज-वासियों को छोडकर मथुरा चले गये और फिर न आये, अत काले रग वालों से सदा सजग रहो।

कृष्ण के प्रति कैसी मीठी चुटकी है! प्रमाण अलकार और अर्थान्तरन्यास की कैसी छटा है!

कृष्ण के काले होने का कारण पद्माकर यों बतलाते हैं—

कवित्त।

गोरो छीर सिन्धु गोरो देखिये सुधा को सिन्धु
　　गोरो चन्द्रबंस गोरो यदुबंस ही को है।
गोरे बलदेव गोरे बसुदेव देवकी हू
　　गोरी गोरी जसुमति गोरो नन्द नीको है॥
ब्रज सबै गोप गोरे गोपिका हू गोरी सबै
　　कान्ह भयो कारो ताते जानो चोरटी को है।
स्याम पूतरी के बीच स्याम पूतरी मे राखि
　　नन्द-पूत री! को * लग्यो रंग पूतरी को है॥३७॥

नारायण भगवान् जिस क्षीरसिंधु में रहते हैं वह गौर है, नारायण जिस अमृत का आहार करते हैं वह भी सफेद है (खाये हुए पदार्थों का रंग भी शरीर में आता है), चन्द्रवंश और यदुवंश भी गोरा ही है, वसुदेव, देवकी, बलराम, यशोदा, नन्द इत्यादि सब संबंधी भी गोरे ही हैं। ब्रज के गोपी-ग्वाल सब गोरे हैं। फिर कृष्ण क्यों काले रंग के हुए? जान पड़ता है कि ये किसी चोरटी के पुत्र हैं (अर्थात् जारज हैं)। इतनी शंका करके पुनः कवि समाधान करता है (और सखी के मुख से सखी के प्रति कहलाता है) कि री सखी! मारे प्यार के नन्द ने इनको अपनी काली पुतली के भीतर की काली पुतली (पुतली के बीच के तिल) में रखा है, इसी कारण इस नन्द-पूत को पुतली का रंग लग गया है। कैसी अनोखी सूझ है!

---

* नन्द-पूत री को = री सखी! नन्द पूत को।

४—गुंजा ।

व्यास अम्बिकादत्तजी की यह उक्ति सोने से तौलने-योग्य है—

दोहा ।

गुंजा री तू धन्य है बसत तेरे मुख स्याम ।
याते उर लाये रहत हरि तोको वसुजाम * ॥३१॥

री गुंजा तू धन्य है, तेरे मुख में सदा श्याम बसते हैं, इसीसे कृष्ण भी तुझे आठों पहर हृदय से लगाये रहते हैं ।

* वसुजाम = दिनरात ।

५—गोपी-गरा ।

'रसखान'जी की उक्ति एक गोपी के मुख से सुनिये—

सवैया ।

लाज को लेप चढाय कै अग पचीं सब सीख को मंत्र सुनाइ कै ।
गाड़रू ह्वै व्रज लोग थक्यौ करि औषद बीसक सौंह दिवाइ कै ॥
ऊधो सो को 'रसखानि' कहै जिन चित्त धरी नहि एते उपाइ कै ।
कारे बिसारे को चाहै उतारयौ अरे विष बावरे राख लगाइ कै ॥ ३२ ॥

उद्धव सदेशा लाये हैं कि भभूत रमाकर योग किया करो। इसपर एक गोपी कहती है कि बहुतसी वृद्धा कुलांगनाएँ हमें लज्जित करके और उपदेश देकर माथापच्ची कर चुकीं। व्रज के पुरुष-गण मन्त्र-शास्त्री होकर अनेक ओषधि-रूपी शपथें देकर हार गये, पर उद्धव से यह बात कौन कहे कि जिन गोपियों ने इतने उपायों को कुछ भी नहीं समझा, उन्हीं का सर्प-विष (कृष्ण-प्रेम) अरे बावरे! तू राख लगाकर उतारना चाहता है? (यह बात बिल्कुल असभव है)

कैसा अच्छा ललित अलकार, अगाध प्रेम, उत्तम व्यंग और मीठी चुटकी है कि रसिक हृदय सुनते ही लोट-पोट हो जाते हैं।

सच्चे प्रेमी सांसारिक नियम को नहीं मान सकते। 'रसखान' की उक्ति एक गोपी के मुख से सुनिये—

सवैया ।

काहू सों माई कहा कहिये सहिये जु सोई 'रसखानि' सहावैं।
नेम कहा अब प्रेम कियो तब नाचिये सोई जो नाच नचावै॥
चाहत हैं हम और कहा सखि क्यों हूँ कहूँ पिय देखन पावै।
चेरियै सों जो गोपाल रच्यौ तो चलो री सबै मिलि चेरी कहावैं॥ ३३॥

किसी से कुछ कहने की जरूरत नहीं, जो अत्याचार प्रेमपात्र करे उसे सहना ही चाहिये। अब प्रेम किया है तब नेम (कुलाचार का नियम) कैसा? जो नाच वह नचावै सो नाचना ही चाहिये। हम क्या चाहती हैं, केवल यही न कि किसी प्रकार कृष्ण के दर्शन पावें। तो जब कृष्ण चेरी ही पर लट्टू हैं तब चलो हम सब भी कंस की चेरी बनें। (कुबरी कंस की चेरी थी)

कैसा अगाध प्रेम है! कृष्ण की रसिकता पर रसीली चुटकी है। प्रेम में अकर्त्तव्य भी कर्त्तव्य है। कैसा गूढ़ व्यंग है!

गोपी की ढिठाई देखिये और तात्पर्य समझिये—

दोहा ।

तुम गिरि लै नख पै धर्यौ इन तुमको दृगकोर।
दो में ते तुम ही कहो अधिक कियो को जोर॥३४॥

तुमने तो पहाड़ को नख पर उठाया और इन्होंने (राधिका ने) तुमको (गिरिधर-रूप को) आँख में रख

लिया। अब तुम्हीं कहो, दोनों में से अधिक बल का काम किस का है? आँख में एक रज-कण पड जाय तो कष्ट होता है। गिरिवर-समेत गिरिधारी जिसकी आँख मे पड जाये, भला कहिये तो, उसकी पीडा का कुछ ठिकाना है।

पुन. देखिये—

दोहा।

बारक तुम गिरि कर धर्यो गिरिधर पायो नाम।
सदा रहै तुम्ह उर धरे तिनको अबला नाम ॥ ३५ ॥
तुम जो गिरिवर कर धर्यो सो है हलकी बात।
गिरि-समेत मैं उर धर्यो नेकौ ना गरुआत ॥ ३६ ॥

अर्थ सरल ही है, पर कहनेवाली गोपी का तात्पर्य बडा ही गुरु है, अर्थात् हम आपके गिरिधर-रूप पर आसक्त हैं।

पुनश्च—

दोहा।

घट बढ इनमे कौन है तुमहि बताओ ऐन।
तुम गिरि लै नख पै धरो हम गिरिधर लै नैन ॥३७॥

बात वही है जो ऊपर कही गई है।

एक मदन-मद-माती गोपी की उक्ति सुनिये—

दोहा।

गोपी जो तोहिँ प्रेम करि करतीं नहीं सनाथ।
को कहतो तोहिँ नंदसुत! जग मैं गोपीनाथ ॥ ३८ ॥

हे नन्दसुत! यदि हम गोपियाँ तुझसे प्रेम करके

तुझे सनाथ न करतीं तो आज संसार में तुझे गोपीनाथ कौन कहता ? (गोपियों ने तुम्हें सनाथ किया, नहीं तो तुम गोपी+नाथ कैसे होते ?)

सच्चे प्रेमी का संतोष भी देखिये। राधिकाजी कहती हैं—

सवैया।

जो मथुरा हरि जाय बसे हमरे जिय प्रीति बनी रही सोऊ।
ऊधो बड़ो सुख येहि हमैं अति नीकी रहैं बलि मूरति दोऊ॥
मेरे ही नाम की छाप परी अरु अन्तर बीच रहै नहि ओऊ।
राधिका कृष्ण सबै तो कहैं पर कूबरी-कृष्ण कहै नहि कोऊ॥३९

कृष्ण मथुरा चले गये—चले जायँ, मेरे मन में तो वैसाही पूर्ववत् प्रेम है। हे उद्धव! हमें यही बड़ा सुख है कि वे सुखी हैं। कुबरी-कृष्ण की बलिहारी जाऊं, युगल जोडी सलामत रहे!... यह सत्य है कि अब कृष्ण कुबरी के साथ रहते हैं। पर उनके नाम के साथ मेरा ही नाम चलता है। सब लोग राधा-कृष्ण ही कहते हैं, कुबरी-कृष्ण, तो कोई भी नहीं कहता।

प्रेमी के सुख से सुखी रहना प्रेम का अत्यन्त ऊँचा भाव है—यही इसमें दर्शाया गया है। नाम-मात्र के संयोग से सच्चे प्रेमी को संतोष होना कैसा अच्छा प्रेम-भाव है!

६—पीताम्बर।

श्रीकृष्ण चले जा रहे हैं। इधर से उनका पीताम्बर पीछे की ओर फहरा रहा है। इसपर 'दीन' कवि की उत्प्रेक्षायें देखिये—

राग नट।

लखु सखि पीत पट फहरात।
कै गँभीर सुनीरधर ढिग चंचला छहरात॥
कै सुनीलम-सिखर तें कढि हेमसोत बहात।
कै सुतरुण तमाल ढिग चपकलता लहरात॥
कै कुहूनिशि के पछारू दीपमाला जात।
कै सभीत सकप बीर सिंगार ही पछियात॥
कै वियोगी निशिहि खेदत चक्रवाक जमात।
कै पवनसुत प्रेमवश ह्वै रामकटि लपटात॥
कै वृहस्पति छीरसाईं संग लगि चलि जात।
'दीन' कै रितुराज बनि रतिराज अनुग सोहात॥ ४७॥

७—भृगुलता ।

एक सिंगारी कवि की सूझ देखिये—

दोहा ।

हरि हिय भृगुपग रेख री वादि विदित सब लोक ।
यह सु-गरत परिगो अरी गडत गडत कुच-नोक ॥ ४१ ॥

कृष्ण के हृदय में भृगुलता-चिह्न लोग व्यर्थ ही कहते हैं, यह तो वह गड्ढा है जो गोपियों के कुचकोर गडते गडते हो गया है। वास्तव में बडी दूर की सूझी है!

'आलम' भृगुलता-चिह्न का मर्म यों बताते हैं—

सवैया ।

कछनी कटि स्वच्छ कछे कवरी बरही बरपुच्छ को गुच्छ बनो ।
बन राजत श्री मुरलीधरजी धुनि सों दिन आनँद होत घनो ॥
हिरदै भृगुलात को चिन्ह लसै उपमा कवि 'आलम' कौन गनो ।
प्रगटै सुअनग प्रसग लगे छवि सुन्दरि अग के अक मनो ॥४२॥

कछनी काछे हैं, सिर पर मोरपच्छ का मुकुट है, वन में मुरली बजा रहे हैं जिसके शब्द से प्रति दिन बडा आनन्द होता है। हृदय पर भृगुलता का चिह्न है, वह प्रगट ही ऐसा जान पडता है मानो गोपियों के गाढ़ालिंगन से कृष्ण के हृदय पर जो उनके कुच गड गये हैं वही दाग है।

१०—वंशी ।

राधिका ने कृष्ण की वशी, ओढनी के नीचे, कचुकी में छिपाई है। वस्त्र महीन है अत· वशी दिखलाई पडती है। इसपर सखी कहती है—

दोहा ।

दुरी दुराये हू हिये, झीने पट बसी न।
सखि तिय दिसि लखि हँसि कही, है यह बीन नवीन ॥४५॥

महीन वस्त्र में वह वशी छिपाने से भी न छिपी, अत. सखी राधिका की ओर देखकर कहती है कि वाह, क्या अच्छी नवीन वीणा है। (दोनों कुचों पर वशी रखने से वीणा की आकृति बन जायगी।)

विहारी की भी उक्ति सुनिये—

दोहा ।

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रँग होति ॥४६॥

ज्योंही कृष्णजी वशी ओठ पर रखते हैं, त्योंही उस पर ओठ की लाल प्रभा, आँख की लाल, काली और सफेद प्रभा, और पीताम्बर की पीली प्रभा पडती है और वशी

स्वय ही हरित प्रभा की है। अत ये सब रग मिलने से वशी में इन्द्रधनुप की सी छटा आ जाती है। अत नशी और तद्गुण अलकार की छटा अत्यन्त दर्शनीय हो जाती है।

वशी पर चिढकर एक गोपी कहती है—

सवैया।

फूँकि कै आई सबै बन को हिय फूँकि कै मैन की आगि जगावति।
तूतो रसातल बेधि गई उर बेधत और दया नहीं लावति॥
आपु गई अरु औरनि खोवनि सौति के काम भनी विधि आवति।
ज्यो वड़े बसते छूटीहै त्यौ बड़े बससे औरनहू को छुड़ावति॥४३

री वशी! तू समस्त वन को फूँककर आई है (बाँस की रगड से दावानल उत्पन्न होती है), इसीसे ये मेरे हृदय में भी मदनाग्नि प्रज्वलित करती है (जलाने का गुण तुझमें है)। तू अपनी जडों से पृथ्वीतल को वेधती है, इसीसे मेरे हृदय को भी निर्दय होकर वेधती है। तू स्वय अपने वश से पृथक् हुई है और औरों को भी वश-मर्याद से पृथक् करती है। सौत के काम की अच्छी विधि तुझको याद है (सौत को हानि पहुँचाना ही चाहिये, सो तू अच्छी तरह करती है)। जैसे तू अपने वडे वश से छूटी है वैसे ही औरों को भी वडे वश से छुडाती है।

'वश' शब्द में श्लेष है। कैसी अनोखी सूझ है!

वशी क्यों इतनी निर्दय है, इसका कारण 'गोकुल-नाथ' के मुख से सुनिये—

सवैया ।

पान किये हू दवानल के जेहि को अधरारस नाहिँ डढै री।
ताके लगी मुख सो यह जाय तो ज्वाल की तानन क्यो न गढै री॥
'गोकुलनाथ' के हाथ वसी है बिसासिनि नाथिवे ही को बढै री
छेदति या हियको बँसुरी सखि पाहन फोरि कै बाँस कढैरी ४८

दावानल पान करने पर भी जिसके अधर का रस नहीं जला उसी कृष्ण की यह मुँहलगी है, फिर ज्वालामय तान क्यों न छेड़े? गोकुलनाथ के हाथ में रहने के कारण यह विश्वास-घातिनी, सबको नाथने ही को आगे बढ़ती है। यह पत्थर फोड़कर पहाड़ों में पैदा होती है, अत हमारे सुकोमल हृदयों को छेदना इसके लिये कौन बड़ी आश्चर्य की बात है। सरस-हृदय पाठक इस उक्ति की विलक्षणता देखें, और गोकुलनाथ=बैलों की नाक छेदने वाला—इस श्लेष पर भी विचार करें तब मजा मिलेगा।

वशी-कृत अनीति तो देखिये। उक्ति 'दास' जी की है—

कवित्त ।

गति नर नारिन की पच्छी देहधारिन की
तृन के अहारिन की एकै बार बधई।
दीन्ही बिकलाई सुधि बुधि बिसराई ऐसी
निरदै कमाई तोसो करि न सकै दई॥
विधि ले सँवारे कान्ह कारे औ कपट वारे
'दास' पू न इनकी अनीत आज की नई।

सुर की प्रकासिनि अधर सेजवासिनि सु-
वंस की ह्वै बसी तू कुपथिनि कहा भई ॥४९॥

नर-नारी, पशु-पक्षी तथा समस्त देह-धारियों की गति को बाँध देती है—चर अचर सबको स्तंभित कर देती है। सुध-बुध छीनकर व्याकुल कर देती है, ब्रह्मा तेरे समान दूसरा निर्दय घातक बना ही नहीं सकता। कृष्ण तो काले और कपटी हैं ही, वे यदि अनीति करें तो आश्चर्य नहीं, पर तू तो सुर (स्वर) की प्रकाशिनी है कोमल और मधुर अधरों की सेज पर लेटनेवाली है, सुवंश (अच्छा कुल और अच्छा बाँस) से उत्पन्न हुई है। हे वंशी! ऐसी होकर तू क्यों कुपथ-गामिनी हुई?

सुर और सुवंश शब्दों का श्लेष दर्शनीय है।

वंशी केवल गोपियों को ही नहीं सताती। काम-देव भी उसका शिकार हो जाता है। अत गजब की वंशी है--

दोहा।

सुनियत मीनन मुख लगै बसी अबै सुजान।
तेरी या बंसी लगै मीनकेत के बान॥५०॥

हे सुजान कृष्ण, अभी तक तो यही सुनते थे कि वंशी मीन के मुख में लगती है और उसे मरवा डालती है, पर अब तो यह तुम्हारी वंशी मीनकेतु (कामदेव) को भी, बाण की तरह लगती है, अर्थात् तुम्हारी वंशी-ध्वनि पर काम भी मुग्ध हो जाता है, तो हम अबलाओं की कौन गिनती है। जो जगद्विजयी काम को पछाड़ेगा वह क्या नहीं कर सकता।

की मुहँलगी होकर कसाई का काम करती है। महान् आश्चर्य है!

दोहा।

अरी बँसुरिया बाँस की तू है निहचै आँच।
फूँकि फूँकि कर पिय धरत तऊ अँगुरिया नाच॥५५॥

हे बाँस की वंशी! तू निश्चय ही अग्नि (आँच) है। इसका प्रमाण यह है कि हमारे प्यारे कृष्ण फूँक फूँककर तुझपर हाथ रखते हैं, तो भी उनकी उँगलियाँ नाचा ही करती हैं।

'आलम' कवि वंशी पर करांगुलि का वर्णन यों करते हैं—

सवैया।

अंग त्रिभंग किये मनमोहन वे मन काम के कोटि हरैं
चित चाहि चुभ्यो वृषभानुसुता तन आँगुरि बाँसुरि वेह धरैं॥
चंचल चारु चलैं करपल्लव 'आलम' नैकु न नैन टरैं॥
तजि रोस सुचारु सुधाकर पै मनो नीरज के दल नृत्य करैं॥५६॥

वंशी बजाते समय कृष्ण की अँगुलियाँ चंचल हो रही हैं, और ऐसी जान पड़ती हैं मानो कमल-दल रिस छोड़कर चन्द्रमा पर नाच रहे हैं।

११—विधि-विडम्बना।

समालोचक कवियों ने ब्रह्मा तक की भूलें दिखलाई हैं। धनीराम की उक्ति सुनिये—

कवित्त।

अनलशिखा मे करी धूम मलिनाई तैसे
आवरन काई को विमल वारियर में।
कोमल कमलनाल कटककिहारी कीन्हो
जलनिधि खारो यो निहारो भूमितल में॥
बैन सुने जगत कुबोलो ठहरैहै 'धनी-
राम' कोऊ काहू के न जाने केहूँ मरमै।
वक्र विधि बुद्धि को निसक कहियत काहे
पक कीन्हो सरनि कलक सुधाधर मे॥ ५७॥

अग्नि में धुवाँ, निर्मल नीर में काई, कोमल कमल-नाल में काँटे और समुद्र को खारा बनाया। 'धनीराम' कहते हैं कि मेरी बात सुनकर लोग मुझे कटुवादी कहेंगे, परन्तु कोई मेरे मर्म को न जानेगा कि मैं ऐसा क्यों कहता हूँ। मैं निःशङ्क होकर कहता हूँ कि ब्रह्मा अवश्य कुटिल बुद्धि का है, नहीं तो सुन्दर सरोवरों में कीचड़ और चन्द्रमा में कलक क्यों बनाता।

१२—रामजी।

'दीन' कवि की सूझ देखिये—

दोहा।

धनुष-बाण लखि राम कर 'दीनहिं' होत उछाह।
टेढ़े सूधे सबन को है प्रभु-हाथ निवाह॥ ६१॥

श्रीरामजी के हाथों में धनुष-बाण देखकर 'दीन' को हर्षोल्लास होता है। क्यों? इसलिये कि इससे साफ प्रगट है कि टेढ़े और सीधे (भले और बुरे) सब लोगों को श्रीरामजी अपनाते हैं। अत मुझ 'दीन' को भी अपनावेंगे।

पुनश्च—

दोहा।

जो नहिं होते जगत मे मोसे 'दीन' निकाम।
तो क्यो होतो प्रगट प्रभु दीनबंधु तव नाम॥ ६२॥

यदि मेरे समान दीन हीन निकम्मे जन संसार में न होते, तो हे राम! तुम्हारा नाम 'दीनबंधु' कैसे होता? 'दीनों' ने ही तुम्हें 'दीनबंधु' की पदवी दिलाई है, अत तुम्हें दीनों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये। क्या खूब!

'पद्माकर' की भी रसीली उक्ति सुनिये—

कवित्त ।

जोग जप सध्या साधु-साधन सबै ई तजे
कीन्हे अपराध जे अगाध मनभावते ।
तजतो जो औगुन अनत 'पद्माकर' तो
कौन गुन लैकै महराजहिँ रिझावते ॥
जैसे अब तैसे, पै तिहारे बडे काम के हैं
नाही तो न एते बैन कबहूँ सुनावते ।
पावते न मोसो जो पै अधम कहूँ तो राम
कैसे तुम अधम-उधारन कहावते ॥ ६३ ॥

योग, जप, सध्या-वदनादि सब उत्तम साधन तो छोड ही दिये, अगाध अपराध पेट भर किये। अच्छे साधनों को छोड देने पर, यदि मैं अनन्त अवगुणों को भी छोडकर बैठ रहता, तो फिर कौनसा गुण लेकर आपको रिझाता। खैर, मैं जैसा हूँ वैसा हूँ ही, पर आपके वडे काम की वस्तु हूँ, नहीं तो मैं आपसे कुछ कहता भी नहीं। आपही कहिये (कि आपके काम की वस्तु हूँ कि नहीं) यदि मुझ-सा अधम आपको न मिलता तो आपका नाम अधम-उधारन कैसे होता ?

'भिखारीदासजी' की उक्ति सुनिये और दाद दीजिये—

दोहा ।

महाराज रघुराजजू कीजत कहा गुमान ।
दइ कोश दल धनी सरसिज तुमहि समान ॥ ६४

अब 'रहीम' की अनोखी सूझ देखिये। वृद्धावस्था में विवाह करनेवालों को इससे सुन्दर शिक्षा मिलती है.—

दोहा।

कमला थिर न 'रहीम' कह जग जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की तिया क्यों न चचला होय ॥ ६६ ॥

लक्ष्मी चचला है। पुरातन पुरुष (नारायण, वृद्ध पुरुष) की स्त्री है न? अर्थात् बुड्ढे पुरुष की युवती स्त्री अपने वृद्ध पति से असतुष्ट रहती है, अत: चचल प्रकृति की हो जाती है।

सोरठा।

कालकूट विष नाहि, विष है केवल इन्दिरा।
हर जागत छकि वाहि, यहि सँग हरि नीद न तजत ॥६७॥

कालकूट विष नहीं है, वरन् लक्ष्मी ही विष है। विष खाकर तो शिव जागते रहते हैं, पर लक्ष्मी का सग पाकर (लक्ष्मीवान् और नारायण) सदा शय्या पर ही रहते हैं—बहुत सोते हैं, नींद ही नहीं खुलती।

प० रामचरित उपाध्याय की उड़ान देखिये—
श्रीपति ने गोसेवा की है। वही बुद्धि लक्ष्मी की भी है॥
नर-पशु की सेवा करती है। विज्ञो से सुदूर रहती है ॥ ६८ ॥

चूँकि श्रीपति ने गोपाल-स्वरूप से गोसेवा की है, अत वही बुद्धि लक्ष्मी की भी है। उन्होंने पशु-सेवा की, तो उनकी स्त्री नर पशुओं की सेवा करती है और विद्वानों से दूर ही रहती है।

लक्ष्मीवान् क्यों अविचारी होते हैं—इसका कारण भी उपाध्यायजी से सुनिये—

जिनके घर लक्ष्मी रहती है। वे नर अविचारी होते हैं॥
लक्ष्मीपति को क्या कमती है। पर वे पन्नग पर सोते हैं॥६७॥

जिनके घर लक्ष्मी रहती है वे अविचारी होते हैं। देखो, नारायण भगवान् को किस वस्तु की कमी है, पर वे पलंग, खटिया, तोशक, कालीन इत्यादि छोड़कर सर्पशय्या पर सोते हैं। यह अविचार नहीं तो क्या है।

लक्ष्मी क्यों मूर्खों के पास रहती है—उपाध्यायजी ही के मुख से यह भी सुन लीजिये—

स्त्री की मति उलटी होती है।
उभय कुलों को वह खोती है॥
वारिधि-सुता विष्णु की जाया।
उस श्री के मन शठ नर भाया॥ ७२॥

स्त्रियों की बुद्धि उलटी होती है (उनका नाम ही वामा है), वे दोनों कुलों को नष्ट कर देती हैं। देखो, लक्ष्मी समुद्र की पुत्री और विष्णु की पत्नी है (कैसे बड़े की पुत्री और पत्नी है), पर उसको भी शठ ही नर भाता है, अर्थात् वह मूर्ख के पास रहती है (यही उसकी बुद्धि का उलटापन है)।

प्रकृति-घाट।

हाँ काव्य-मधुप होके जो बदनाम न होता।
तो 'दीन' भी दुनिया में बड़े काम का होता॥

—भगवानदीन।

(१) प्रकृति-रूप।

प्रकृति के उपासक जन प्रकृति देवी का दर्शन करें और आनन्द लूटें—

कवित्त।

छिति-परयक पै निशक अङ्क सोभित है,
अम्बरई अम्बर विराजत अनूपा को।
वलया जलधिजाल, कज्जल जलदजाल
विपिन विसाल पै विनासथल रूपा को॥
कलाधर तरनि तरयौना पौन बीजन है
पावक ही जावक है जेबदार दू पा को।
'चन्दन' नखतभार मोतिन के भूषण हैं
विश्वतत्वसार है सिंगार विश्वरूपा को॥१॥

प्रकृति देवी पृथ्वी-रूपी पलग पर नि शंक विराजती है। आकाश ही उस अनुपम देवी के पहनने का वस्त्र (साडी) है। सातों समुद्र चूडियाँ है, घनघटा ही कज्जल है और विशाल विपिन ही उसके घूमने-फिरने का स्थान है (प्रकृति की शोभा देखना हो तो जगलों की सैर करो)। सूर्य और चन्द्रमा उसके कर्णफूल है, पवन उसका पखा है, दावानल ही उसके दोनों पैरों में लगा हुआ सुन्दर महावर है। 'चन्दन' कवि कहता है कि नक्षत्र-समूह ही उसके मोतियों के आभूषण है और ईश्वर (विश्वतत्त्वसार) ही उस विश्वरूप देवी का सच्चा सिंगार (पति) है। मतलब यह, प्राकृतिक छटा देखने से ईश्वर का स्मरण आता है।

(२) आम।

"'दिनेश' कवि ने आम्र वृक्ष का कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

कवित्त।

आवत निकट ताहि सीतल करत अरु
देत फल याको ताको सुन्दर-परनु है॥
बात हिम आतप को सहत रहत सदा,
चाहत कछू न पूछे फूलित सुमनु है॥
कहत 'दिनेस' दृढ़ आसन अधार मूल
हेत तपही सो औ निकेत कीन्हो बनु है।
आली अलि-आली जपमाली गहे राजत है
साखी जनि जानु जानु कोऊ मुनि जनु है ॥२॥

जो कोई इसके निकट जाता है उसे यह ठंढी छाया और फल देता है, यही इसका सुन्दर प्रण है, (सुन्दर पत्ते हैं)। हवा, शीत, घाम सदा ही सहता है, पूँछने पर अपना कुछ दुःख कहता भी नहीं, सदा मन प्रफुल्लित रखता है। सदाही दृढ़ आसन है, मूल का ही आधार है (मानो कंदमूल ही खाकर रहता है), तपही से प्रेम है, वन में बसता है। हे सखी, देखो, भ्रमरावली (अलि-आली) की ही सुमिरनी (जपमाली) लिये हुए है। इसे पेड़ मत समझो, यह मानो कोई मुनि है।

रूपक, श्लेष, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अनुप्रासादि अलंकारों की छटा दर्शनीय है।

(३) आम्र-मंजरी (बौर)।

'मणिदेव' कवि का कथन दूती-मुख से सुनिये—

कवित्त।

कोकिलन खोजिन को संग लै अनेक फिरै
　　चारो ओर प्यारी बिरही जन के खोज को।
याते हौं कहति चलु प्यारे सुखदान पास
　　तजि कै अज्ञान दूर कै री मान सोज को॥
'मणिदेव' भनत रसालन के बौरन के
　　भौर न ये सोहत धरे हैं महा ओज को।
दायक बिथा री ऋतुनायक लिये है वर
　　घायक परम दीखैं सायक मनोज को॥ ३॥

कोकिल-रूपी जासूसों को साथ लिये हुए विरहियों को ढूँढता फिरता है। इसीसे मैं कहती हूँ कि अज्ञान और मान को छोडकर प्यारे के पास चल। ये आम के बौर नहीं हैं, ये महा ओजपूर्ण और घातक काम-शर हैं। इन्हीं बाणों को लेकर वसंत (कामसखा) विरहिनियों का शिकार खेलने आया है।

'कै री' शब्द विशेष मजा दे रहा है।

आम में जब तक जाला नहीं पडता तब तक उस फल को 'कैरी' कहते हैं। एक उर्दू कवि ने कहा है—

कबतक छिपैगी कैरी तू पत्तों की आर में।
आख़िर को आम होके बिकैगी बजार में॥

(४) ओस।

ओस के विषय में यह अनूठी उक्ति देखिये—

दोहा।

माधौमुख समता करत लह्यौ न आधो नूर।
तबहिं ओसकन-ब्याज री झरि गो चंद-गरूर ॥४॥

चन्द्रमा कृष्ण के मुख की समता करना चाहता है, पर जब अपने में कृष्ण-मुख की कान्ति से आधी कान्ति भी नहीं पाता तब उसका गरूर झड़ जाता है। वही ये ओस-कण है। क्या ख़ूब! कितनी दूर की सूझी है। यह कविता है या जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये गये हैं?

पं० प्रयागनारायणजी का भी अनुमान सुनिये—

कातिक जल को त्राम भानु ते जब न दिवस बस पावै।
चोराचोरी धरनी-धन तें ओसरूप लपटावै ॥ ५ ॥

जल और पृथ्वी प्रेमी और प्रेमिका है। पावस में सयोग के कारण दोनों हर्षित रहते हैं, पर कार्तिक में (जब जल बरसना बंद हो जाता है और जल क्रमश सूखता जाता है) सूर्य से जब जल को त्राम मिलता है (अर्थात् सूर्य के नक्षत्रातप में जाग के जब पृथ्वी पर नहीं बरसने पाता और क्रमश पृथ्वी से हटाया जाता है) और जब दिन के समय पृथ्वी से मिलने के हेतु कुछ वश नहीं चलता, तब वह जल चोराचोरी (रात को) ओस बनकर पृथ्वी-रूपी अपनी प्रेमिका से लपटता है।

कार्तिक में रात्रि को ओस अधिक पडती है। उसका कारण कवि कैसी विलक्षण रीति से बतलाता है।

(५) कटक-रज।

'केशव' की कारीगरी देखिये—

सवैया।

राघव की चतुरंग चमू चले धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानो प्रताप-हुताशन-धूम न 'केसवदास' अकास अमाई॥
मेटिकै पंचप्रभूत किधौं विधि रेनुमई नई रीति चलाई।
दुःख-निवेदन को भव-भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई॥ ६॥

जन-समूह के चलने से रज उडती है। इस साधारण घटना पर केशव अनुमान लगाते हैं—

अश्वमेध यज्ञ के घोडे के साथ जब श्रीरामजी की चतुरंगिणी सेना चली तब ऐसी धूल उठी कि जल और थल पर छा गई। मानो श्रीरामजी की प्रतापाग्नि का धुआँ है जो इतना अधिक है कि अंतरिक्ष में नहीं अटता, या ब्रह्मा ने पञ्च तत्वों को मिटाकर रेणुमय सृष्टि रचने का विचार किया है, अथवा अपने ऊपर पाप का भार बढा हुआ देखकर अपना दुःख निवेदन करने के लिये भूमि सुरलोक को जा रही है।

इस धूल की उडान के संग ही संग 'केशव' की बुद्धि की उडान भी देखने ही योग्य है।

दीख पड़ते हैं मानो वर्षा-स्त्री ने अपने मणि-भूषण उतारकर सदूक में रख छोड़े हैं। पीन पयोधर रस बरसाकर (बादल पानी बरसाकर, कुच विषय-सुख देकर) गिर गये हैं, अब अच्छे नहीं लगते, फीके (रस-हीन) हो गये हैं, शोभा लेशमात्र भी नहीं रही। शरद ऋतु में वृद्धा स्त्री के ये सब चिह्न प्रगट हो गये हैं तिसपर चारोंओर कॉस फूल रहे हैं। यौवन नष्ट करनेवाले योनिकुंभ के उदय से (जल सोखनेवाले अगस्त्य के उदय से) वर्षा बूढी हो गई है। ये कॉस-पुष्प मानो उसीके सफेद बाल हैं।

श्लेष से पुष्ट कैसा सुन्दर रूपक है कि देखते और समझते ही बनता है।

(७) कोकिल।

वर्षा में कोयल क्यों मौन हो जाती है—इसपर गोस्वामी तुलसीदासजी की उक्ति सुनिये—

दोहा।

'तुलसी' पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं हमै पूँछिहैं कौन॥ ११॥

अर्थ सरल है।

और, कोयल ने मीठा स्वर क्यों पाया है इसका कारण गोस्वामी किशोरीलाल जी से सुनिये—

सोरठा।

पाई अधिक मिठास, तैं कोकिल निज बैन मे।
कारण, पाल्यो जासु, हौत पाँख त्याग्यो तिनहिँ॥१२॥

हे कोकिल, तू जो अधिक मधुर-भाषिणी हुई इसका कारण यह है कि जिस (कौवे) की तू पाली हुई है पक्ष होते ही उसकी संगति छोड़ दी (नहीं तो तू भी कटु-भाषिणी हो जाती)।

विरही जनों को कोकिल कैसी दीखती है, यह बिहारी से सुनिये—

दोहा।

बन बाटनि पिक बटपरा तकि बिरहिन मत-मैन।
कुहौ कुहौ कहि कहि उठै करि करि राते नैन॥ १२॥

जंगल के रास्तों में पिक एक डाकू है जो काम की सम्मति से विरही जनों को देखकर लाल लाल नेत्र करके 'मारो मारो' कह उठता है।

कैसी अच्छी उक्ति है! साधारण कुहू कुहू (पिक शब्द) और साधारणतः लाल आँखों के बल पर बिहारी ने कैसी करामात की है! इसीको काव्य-शक्ति और उस्तादी कहते हैं।

'दीन' कवि कोकिल और कृष्ण की समता यों दिखलाता है—

सवैया।

सत बसन्तहि चाहैं दोऊ दोऊ वास करैं बन कुंजन माहीं।
सूखे से रूखन के ढिग जात न नेहिन के हितुवा हैं सदाहीं॥
अप्रिय दोऊ वियोगिन को अरु योगिनके चित दोऊ

'दीन' भने करि गौर बिलोकहु कोकिला कृष्ण में भेद है नाहीं॥१४॥

दोनों (कृष्ण और कोकिल) सत ओर वसन्त को चाहते हैं, दोनों वन-कुञ्जों में रहते हैं। सूखे रूखे (अभक्त) जनों और सूखे रूख के पास नहीं आते, प्रेमियों के दोनों हितैषी हैं। वियोगियों को दोनों नहीं भाते, योगियों (योगी, सयोगी) को दोनों अच्छे लगते हैं। अतः कृष्ण और कोकिल एक ही हैं।

सवैया।

दोउ पच्छी जग पूँछ दुहून की दोऊ कबौं कबौं देत दिखाई।
रागी दोऊ अनुरागी दुऊ, दोऊ अंड रचैं पै रहैं अरगाई॥
धौरे रसालन चाहैं दोऊ कवि वृन्द दुहून की कीरति गाई।
'दीन' भनै करि गौर बिलोकहु कोकिल कृष्ण में भेद न भाई॥१५

दोनों पच्छी हैं (कृष्ण मोर-पच्छ धारण करते हैं अथवा भक्तों का पच्छ लेते हैं, कोकिला पच्छी है ही)। संसार में दोनों का आदर है। दोनों कभी कभी दिखाई पड़ते हैं। दोनों रागी हैं (राग गानेवाले), दोनों अनुरागी (प्रेमी) हैं। दोनों अंड रचते हैं, पर उनसे अलग रहते हैं (कृष्ण ब्रह्माण्ड रचते हैं, पर निर्लिप्त रहते हैं, कोयल अंडा देती है, पर सेती नहीं), धौरे रसालों को दोनों चाहते हैं। (कृष्ण सीधे रसिक भक्तों को, कोयल मञ्जरी-युक्त आमों को)। कविगण दोनों की कीर्ति गाते हैं, अतः कृष्ण और कोकिल में कुछ भेद नहीं है।

सवैया।

उपजै घर आन पलैं घर आन के बाल रसालन पै दोउ मातैं।
दोउ कामिनके मन काम करैं दोउ बोलैं मनोहर माधुरी बातैं॥
दोउ कुंजविहारी महा रसिया दोउ जानत काम किशोर की घातैं।
कवि 'दीन' भनै दोउ श्यामरे अंग सो कोकिल कृष्ण में भेद कहाँ तैं॥१६॥

दोनों अन्य के घर पैदा होते हैं और अन्य के घर पाले-पोसे जाते हैं। दोनों रसाल बालों पर मस्त होते हैं (कृष्ण रसीली बालाओं पर, कोयल आम की बौर पर)। दोनों कामियों के मन (में) काम करते हैं (कृष्ण अपने कामना-वाले भक्तों के मनोकाम पूर्ण करते हैं, कोयल कामियों के मन में काम उत्पन्न करती है)। दोनों मनोहर और मधुर वाणी बोलते हैं। दोनों कुंज-विहारी हैं। दोनों बड़े रसिक हैं। दोनों काम-किशोर की बातें जानते हैं। दोनों काले रंग के हैं, अतः कृष्ण और कोयल में कुछ भी भेद नहीं है।

वही 'दीन' कवि दोनों में भेद भी दिखलाता है—

दोहा।

वे मधुरिपु या मधुप्रिया देखौ मिन विचारि।
विरही पर दुख दानिया वे बरही-पख-धारि॥१७॥

वे (कृष्ण) मधु (मधु दैत्य) के शत्रु हैं, और यह (कोकिल) मधुप्रिया (वसंतप्रिया) है। यह कोयल

विरही पक्ष को दु:खदायी है और वे (कृष्ण) बरही-पक्ष-धारी (मोरपंखधारी) हैं ।

पुनश्च—

दोहा ।

याहि वसत सुहात नित चाह उन्हें नव सन्त ।
वे नागर या बन वसति लखियत भेद अनन्त ॥ १८॥

इसे सदा वसत अच्छा लगता है, उन्हें नव सन्त की चाह रहती है। वे (कृष्ण) नगर में रहते हैं, यह (कोकिल) वन में बसती है। अतः दोनों में अनत भेद हैं।

'चाह उन्हैं नव सन्त' = इसका अर्थ देखने में यह भी भासता है कि 'उन्हें वसन्त की चाह न'। इसी श्लेष की सहायता से यहाँ काम लिया गया है।

(८) खंजन ।

एक कवि खजन की गैरहाजिरी का कारण यों बतलाता है—

दोहा ।

खजरीट नहि लखि परत कछु दिन साँची बात ।
बाल-दृगन-सम होन को मनो करन तप जात ॥१९॥

साल में कुछ दिनों के लिये खजन यहाँ नहीं दीख पड़ता, मानो किसी नायिका के नेत्रों के समान अपने नेत्र पाने के लिये वन में तप करने के लिये चला जाता है ।

असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षालंकार की छटा कैसी दर्शनीय है।

(९) चन्द्र।

चंद्रमा क्यों पृथ्वी का चक्कर लगाया करता है इसका कारण गोविन्द गिल्ला भाई के मुख से सुनिये—

कवित्त।

अमृत को ऐंचि धरो राधिका के ओठन में,
चंद्रिका छिनाइ दीही देखो दशनादि को।
षोडश कलानि काटि वत्तिस बनाये दन्त,
वाही को विलोकि हीरा पावत प्रमाद को॥
पोषन-सकति छीन धारी है बचन माहिं,
ऐसे सब छीन लियो मेटी मरजाद को।
'गोविंद' कहत तब काय में कलेश पाय,
चंद तें फलक नभ फिरत फिराद को॥ २०॥

चन्द्रमा का अमृत खींचकर राधिका के ओठों में रख दिया गया। चाँदनी छिनाकर राधिका के दाँतों को दे दी गई। चन्द्रमा की सोलहों कलाओं के टुकडे करके राधिका के ३२ दाँत बना दिये गये जिन्हें देखकर हीरा भी पागल हो गया। चद्रमा की पोषण-शक्ति छीनकर राधिका के वचनों में रख दी गई। इस तरह बेचारा चन्द्रमा लूट लिया गया। गोविन्द कवि कहता है कि मेरे अनुमान में ऐसा आता है कि इसी कारण दुःखित होकर फरयाद करने

के लिये चन्द्रमा चक्कर लगाया करता है कि कोई उसकी फरयाद सुनकर उसका माल-मता वापस दिला दे, पर आजतक उसकी फरयाद किसी ने नहीं सुनी।

विरही जनों को चद्रमा कितना दुखदाई होता है यह बात एक विरही जन ही जान सकता है। सुनिये, एक विरहिणी स्त्री चन्द्रमा को सर्प-रूप में देखती है—

सवैया।

सेत सरीर हिये विष स्याम कला फँन री मनि आनु जुन्हाई।
जीभ मरीची दसौ दिसि दौरतीं काटत जाहि वियोगनि लाई॥
सीस ते पूँछ लौं गाल गरयो पै डसे बिन ताहि परै न कलाई।
सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं, चंद नहीं या फनिन्द है माई॥ २१॥

इसका शरीर सफेद है, पर इसके पेट में जो विष है वही श्यामता है, सोलह कलायें इसके फण हैं, चाँदनी ही इसकी मणि है, किरणें जीभ हैं जो सब ओर को दौड़ती हैं वियोगियों को काटता है। सिर और पूँछ दोनों गल गये हैं (केवल कुंडलाकार गोल गोल कुछ भाग बच रहा है), पर बिना उसे डसे चैन नहीं पड़ती। (शंका यह है कि यह सफेद क्यों है, सर्प तो काला होता है) हाँ, यह शेषनाग के वंश का है—इस वंश के सर्प सफेद ही होते हैं। हे माई! यह चन्द्रमा नहीं, इसे निश्चय ही फणीन्द्र जानो।

हेत्वपह्नुति अलंकार की कैसी अद्भुत स्थापना है

'मतिराम' जी किसी विरहिनी से चन्द्र प्रति कह-लाते हैं—

कवित्त।

ए रे मतिमंद चंद धिग है अनन्द तेरो
　　जोपै विरहिनि जरि जात तेरे ताप ते।
तू तो दोषाकर दूजे धरे है कलंक उर
　　तीसरे कपाली संग देखो सिर छाप ते॥
कहै 'मतिराम' हाल जाहिर जहान तेरो
　　बारुणी को बासी भासी रवि के प्रताप तें।
बाँधो गयो, मथो गयो, पियो गयो, खारो भयो
　　बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पाप तें॥२२॥

विरहिनी कहती है हे चन्द्र, तुझमें बहुत से अव-गुण हैं। तुझे धिक्कार है! बेचारी विरहिनी स्त्रियाँ तेरी चाँदनी से जलती हैं। तू दोषाकर है (दोषाकर = (१) दोषा + कर, (२) दोष + आकर), कलंकी है, कपाली (शिव) के साथ रहता है, वारुणी (पश्चिमी दिशा और मदिरा) का वासी है, दूसरे के तेज से तेरा तेज है (रवि-किरण से प्रकाशित है), तेरे ही पापों से तेरे पिता समुद्र की दुर्गति हुई है। फिर जब तू अपने बाप ही के साथ कुछ भलाई नहीं कर सका तो मेरे साथ क्या करेगा?

चन्द्रमा को कलंक क्यों लगा इसका कारण सुनिये—

दोहा।

बढ़ि बढ़ि गुरु समता लिये घटि आयो निरसंक।
ताते रुक गयक री पायो अंक कलंक॥२३॥

राधिका के मुख की समता करने के लिये, रोज थोड़ा २ बढ़ता हुआ अंत में निःशंक होकर चढ़ाई बोल दी, इसीसे इस बेचारे मयंक का मुख काला हुआ। समता न कर सका, पर लज्जा की स्याही मुख पर लग ही गई।

चन्द्रमा को ग्रहण क्यों लगता है?

दोहा।

अगजगात है होन को या आनन लौं चन्द।
ताही ते पूरन भये मन्द परै तम फन्द ॥ २४ ॥

इस तुम्हारे मुख के समान होने के लिये प्रति दिन थोड़ा थोड़ा बढ़ता जाता है। मुकाबला करने की ढिठाई करता है। इसीसे दंड-स्वरूप में इसे पूर्ण हो जाने पर राहु की कैद में पड़ना पड़ता है। बड़ों की बराबरी करने की ढिठाई की यही सजा है।

चंद्रमा राधिका के मुख की समता कैसे कर सकता है— इसकी युक्ति एक कवि बतलाता है—

दोहा।

निशदिन पूरन जगमगै आवै धोय कलंक।
तौ वाके मुख की प्रभा पावै सरद-मयंक ॥ २५ ॥

अपना कलंक धुलवा डालै और रातदिन पूर्ण-कान्ति-युक्त पूर्ण सोलहों कलाओं से चमके तब कहीं शरद ऋतु का चद्रमा राधिका के मुख की समता पा सकता है। सभावनालंकार की अनूठी छटा है।

अमावस की रात्रि को चन्द्रमा की सब कलाएँ क्यों लुप्त हो जाती हैं?

दोहा।

ससि चकोर के दरद को जब तोहिँ असर न होय।
कुहू निसा षोडस कला तब ते बैठत खोय॥ २६॥

हे चन्द्र! चकोर की प्रेम-पीड़ा का तुझपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता (तू बिलकुल हृदय-हीन है), इसीसे अमावस की रात्रि को तेरी सब कलाएँ छीन ली जाती हैं। बेशक निर्दयी की यही सजा होनी चाहिये।

कोई चन्द्रमा को सिंह के रूप में दिखलाकर अपना कार्य साधन करती है—

सवैया।

वारन मत्त विदारयो महातम देखि महाबल की अधिकाई।
अंक से मारि गह्यो करसायल जानत लोग कलंक-कराई॥
मानुष कैसे बचै मृगलोचनी कान्ह समीप बसै तो भलाई।
आवत ऊपर नदरि मद सों इंदु नहीं या मृगेन्द्र है भाई॥२७॥

यह चन्द्रमा नहीं है, सिंह है। इसके महाबल की अधिकाई तो देखो। इसने महा घोर अन्धकार-रूपी मस्त हाथी को फाड डाला है, काले मृग को मारकर गोद में रख लिया है, जिसे लोग कलंक की कालिमा जानते हैं। हे मृग-लोचनी! भला मनुष्य इससे कैसे बच सकता है? हाँ एक उपाय है और वह यह कि कृष्ण के समीप रहो तो अच्छा है (क्योंकि उनमें सिंह को मारने की शक्ति है)। यदि मेरा कहा न मानोगी तो सावधान हो जाओ, धीरे धीरे तुम्हारे ऊपर ही आ रहा है।

भोर भयो जानि कै विहगन में सोर मच्यो
अवनि अकास में प्रकास सरसायी है॥
परी घलाघल बाल चमू चतुरंगिनी में
'नागर' तपत तेज ब्रज पर आयो है।
चन्द्रमा न होय यह मानिनी के जीतिवे को
मैन महारथी ब्रह्म-अस्त्र ते चलायो है ॥३०॥

निकलता हुआ चन्द्रमा सूर्य सा दिखलाई देता है। अंधकार पल भर में भाग गया। सवेरा हो गया, इस भ्रम में पड़कर पक्षी शोर करने लगे, आकाश और पृथ्वी में प्रकाश हो उठा। स्त्रिया की चतुरंगिणी (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी) सेना में हलचल पड गई। तपता हुआ ब्रज पर आ गया। नागरीदासजी कहते हैं कि मेरी समझ में यह चन्द्रमा नहीं है, वरन मानिनियों को जीतने के लिये काम महारथी ने यह ब्रह्मास्त्र चलाया है।

चन्द्रोदय होते ही कामोद्दीपन से विवश होकर मानिनी नायिकाएँ मान छोड अपने २ प्रियतम से मिलती हैं; अत चन्द्रमा अवश्य ही अमोघ ब्रह्मास्त्र है। कल्पना कितनी बारीक, सत्य और सुन्दर है। हेत्वपह्नुति अलंकार भी अनोखा ही है। इसे अनोखी सूझ न कहें तो क्या कहें?

अब 'गोकुलनाथ' कवि की उक्ति सुनिये—

सवैया।

चारिहु आस चक्यो बल कै पर 'गोकुल' कोउ कहूँ न गयो है।
मागुम कोटि पखी पसु आदि लता तरु वारि समेत तयो है॥

रीस भरोसो मिल्यो यहि को सजनी यह वाहू ते ज्वाल-
मयो है।
जारिवे को निसि द्यौस मनो ससि को सब सूर कनानि
दयो है ॥ ३१ ॥

कोई विरहिणी कहती है कि चन्द्रमा में इतनी गरमी कहाँ से आ गई। मालूम होता है कि सूर्य जब चार पहर तपते २ थक गया और उसकी गरमी से किसी ने भी काम-काज नहीं छोड़ा—मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, तरु और पानी तक को तपाकर हार गया, पर कोई डरा नहीं और जब सूर्य अपने घर जाने लगा तब वह खिसिआया हुआ था, रास्ते में चन्द्रमा मिल गया जो उससे भी अधिक ज्वालामय है, तो रात को भी सबको जलाने के लिये अपनी किरणें चन्द्रमा को देता गया है।

चन्द्रमा के द्विजेश (द्विजराज) नाम पर तर्क सुनिए—

सवैया।

कलङ्क धरै पुनि दोष करै निसि में विचरै रहि बक हमेस।
चदै लखि मित्र को होत मलीन कुमोदिनि को सुखदानि
विसेस ॥
रखै रुचि 'माधव' वारुनी की वपुरे विरहीन को देत कलेस।
न जानिये काह विचारि गुनीन धरयो यहि चंद को नाम
दुजेस ॥ ३२ ॥

माधव कवि कहता है कि यह चन्द्रमा कलङ्की है तथा दोषाकर (निशिकर) है, निशाचर है, हमेशा टेढ़ा ही रहता है, मित्रोदय (सूर्योदय) को देखकर मलिन होता है,

मुख की छवि का वर्णन करके अप्सराओं ने इसकी हँसी उड़ाई है, इसीसे इसकी मति हैरान हो गई है। दूसरे, मेरे नेत्रों से लज्जित मृगों ने भी (जो इसके रथ के वाहन हैं) इसको उत्तेजित किया है, इसीसे कलङ्क-रूपी विष की पुड़िया बाँधकर मेरे द्वार पर मरकर वैर लेने आया है। न जाने ब्रह्मा ने क्या होनहार रची है।

नोट—प्रचीन काल में ब्राह्मण लोग कुछ वश न चलने पर अपने विरोधी के द्वार पर किसी प्रकार मरकर बदला लेते थे, अर्थात् उसपर ब्रह्म-हत्या का दोष लगाते थे। इस छन्द में इसी रीति का रूपक है।

"किशोर" कवि की राय सुनिये—

कवित्त।

अति ही अनंदकंद चंद्रिका सुधाकर की
पुंडरीक पथिक-प्रिया को प्रतिकूल है।
कहत 'किसोर' निसि नारि के हिये की मनि,
दरसावै कुँवरि किसोरी दिन दूल है॥
दरद हरन, वर परब को इन्दु स्वच्छ
सरद सु इन्दिरा को मुख सुखमूल है।
तारकान कलित मझार चारु दुति फूल्यो
अन्तरिच्छ कलप तरोवर को फूल है॥२५॥

पथिक-प्रिया = (परदेशी की स्त्री) विरहिणी। निसि-नारि के हिये की मनि = रात्रि रूपी स्त्री के हृदय की मणि अर्थात् चन्द्रमा।

कोई स्त्री दिन में अपने दुलहे को (पति को)

चन्द्रमा दिखलाकर कहती है कि इस चन्द्रमा की चाँदनी जो अत्यन्त आनन्दकन्द है कमल और विरहिनी को प्रतिकूल पड़ती है। देखिये, यह दु:खहरन शरद् की पूर्णिमा का स्वच्छ चन्द्रमा लक्ष्मी का सुखमूल मुख है याकि सुन्दर आकाश में सुन्दर कल्पवृक्ष का फूल फूला है ?

इस कवित्त में अनेक खूबियाँ हैं। इसका व्यङ्ग, इसकी नायिका, इसका अलङ्कार और 'निशिनारि' और "दिनदूल है" की व्याख्या देखते ही बनती है।

केशव की उत्प्रेक्षाएँ देखिये। चन्द्रमा को देखकर सीताजी से कहलाते हैं—

फूलन की शुभ गेंद नई। सूँघि सची जनु डारि दई॥
दर्पण सो ससि श्रीरति को। आसन काम महीपति को॥
मोतिन को श्रुतिभूषण मनो। भूलि गई रवि की तिय मनो॥
देव नदी जल राम कह्यो। मानहु फूलि सरोज रह्यो॥
फेन किधौं नभ सिन्धु लसै। देव नदी जल हंस बसै॥३६॥

क्या यह फूलों की गेंद है, जिसे शची ने सूँघकर फेंक दिया है, या श्रीरति का दर्पण है, या कामराजा का आसन है, या मोतियों का झुमका है जो सूर्यपत्नी यहाँ भूल गई है।

तब केशवदास रामजी के मुख से कहलाते हैं—

यह चन्द्रमा ऐसा है मानो आकाश-गङ्गा में सफेद कमल फूला हो, या आकाश-रूपी समुद्र का फेन है, या आकाश-गङ्गा का हंस है।

इन उत्प्रेक्षाओं में ख़ूबी यह है कि सीताजी के मुख से ऐसी वस्तुओं की उत्प्रेक्षायें कराई गई हैं जिन वस्तुओं की ओर स्त्रियों का ध्यान अधिक जाता है (अर्थात् आभूषण) और रामजी द्वारा ऐसी उत्प्रेक्षायें कराई गई हैं जो पुरुषोचित हैं।

इन बातों से कवि की बारीकबीनी का पता लगता है।

(१०) चन्द्-कलंक।

अब गोस्वामी तुलसीदासजी की प्रसिद्ध उक्तियाँ सुनिये—

चौपाई।

कह प्रभु ससि महँ मेचकताई।
कहहु काह निज निज मति भाई॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई।
ससि महँ प्रगट भूमि कै झाई॥ ३७॥

लंका में पहुँचकर एक दिन चन्द्रोदय देखकर श्रीरामजी ने अपने सदस्यों से चन्द्र-कलंक पर प्रश्न किया है। उत्तर में सुग्रीव का मत यह है कि चन्द्रमा पर भूमि की छाया पड़ती है। सुग्रीव हाल ही के हुए राजा थे, अतः इन्हें भूमि ही भूमि सर्वत्र सूझती थी।

मारयो राहु ससिहिं कह कोई।
उर महँ परी स्यामता सोई॥ ३८॥

यह विभीषण का उत्तर है। ये रावण की लात खाकर राम की शरण आये थे, अत इन्हें सर्वत्र मारपीट ही सूझती थी।

कोउ कह जब विधि रतिमुख कीन्हा।
सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इन्दु उर माहीं।
तेहि मग देखिय नभ परछाहीं॥ ३९॥

यह उत्तर जामवत का है। जामवत ब्रह्मा के अवतार हैं। अवतार लेकर भी रचना का काम ही स्मरण आता है।

प्रभु कह गरल बन्धु ससि केरा।
अति प्रियतम उर दीन बसेरा॥
विष-संयुत कर-निकर पसारी।
जारत विरहवत नरनारी॥ ४०॥

यह उत्तर श्रीरामजी का है। आप अपनी भ्रातृ-वत्सलता और प्रणयाधीनता का परिचय देकर यह उत्तर देते हैं। अर्थ सरल है। उक्ति बहुत ही अनूठी है।

दोहा।

कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तुव मूरति विधु-उर बसी, सोई स्यामता भास॥४१॥

यह युक्ति हनूमानजी की अविरल भक्ति की परिचायिका है। सच्चे भक्त को सर्वत्र अपना इष्टदेव ही लख पड़ता है।

'जादव' की उक्ति विलक्षण ही है—

दोहा।

'जादव' जाके नीर को कबौ न अँचवत कोय।
ताको पूत कुपूत-यह कस न कलंकी होय॥ ४२॥

जिस समुद्र का पानी कोई कभी नहीं पीता (जो अस्पृश्य जाति का है) उसका पुत्र चन्द्रमा यदि कलंकी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

'आलम' कवि के अनमोल अनुमान सुनिये—

विधु ब्रह्म कुम्हार को चक्र कि जा मधि राजति कालिमा रेनु लगी।
छवि कै सुरभीर पियूष की कीच कि वाहन पीठि की छाँह खगी॥
कवि आलम रैनि सँजोगिनि ह्वै पिय के शुभ अंकम रंग पगी।
गये लोचन बूडि चकोरन के सु मनो पुतरीन की पाँति जगी॥ ४३॥

या यह चन्द्रमा ब्रह्मा रूपी कुम्हार का चाक है जिसमें मिट्टी की कालिमा लगी है, या देवताओं की भीर में यह अमृत के कीचड़ की छवि है, या चन्द्रवाहन (मृग) की पीठ की छाया पड़ रही है (रथ में जुता हुआ काला मृग आगे है, चन्द्रमा रथ में बैठा है, अतः पीठ की आभा सवार पर पड़ सकती है) या चन्द्रमा की स्त्री 'रात्रि' सयोगिनी होकर बड़े प्रेम से अपने पति की गोद में बैठी है, या चकोरों के नेत्र चन्द्रमा में लगे हुए हैं सो मानो उन्हीं की स्याम पुतलियों की पंक्ति चन्द्रमा में जगमगा रही है।

मदन बनायो चारि वदन बनाय कै।
ताकी रुचि लेन को उदित भयो रैनिपति
राख्यो मतिमूढ निज कर बगराय कै॥
कहै कवि 'चिन्तामणि' ताहि निशिचोर जानि
दियो है सजाय पाकशासन रिसाय कै।
याते सदा फिरै अमरावती के आसपास
मुख पै कलकनिस कारिख लगाय कै ॥४५॥

काम ने ब्रह्मा का रूप धारण करके राधिका का मुख बनाया। मुख बडा सुन्दर बना। उसकी शोभा लेने के लिये चन्द्रमा ने अपने कर फैलाये। रात्रि में दूसरे की वस्तु लेना चोरी है। इस विचार से इन्द्र ने चन्द्रमा को दोषी समझकर दण्ड दिया। चन्द्रमा के मुख पर कारिख लगाकर उसे अमरावती के इर्द-गिर्द घमने की सज़ा दी गई। बस, वही यह कलक है।

'वदन' कवि की कुछ और ही राय है—

कवित्त।

पूरब हँसित वनिता की मुख-पत्र तामें
रचना रुचिर बर मृगमद रग की।
कैधौं नभ सरवर फूल्यो है कमल तामे
मेचक प्रभा है अली अवली उमग की॥
औरौ कवि कोविदन उपमा अनेक कही
'वदन' बखानै एक यहि विधि अंग की।
विरही निरखि याहि नाखत निस्वाँस याते
दागिल दिखात मानौ आरसी अनंग की ॥४६॥

आप कहते हैं कि क्या यह (चन्द्र-कलंक) हँसती हुई पूर्व-दिशा-रूपी स्त्री के भाल की कस्तूरी-बिन्दु-रचना है, या आकाश-रूपी ताल के कमल पर बैठी हुई भ्रमर-पंक्ति है। और कवियों ने और भी उपमाएँ कही हैं, पर 'वदन' को तो यह बात सूझती है कि यह कामदेव की आरसी (गोल आईना) है। इसे देखकर विरही जन निश्वास छोड़ते हैं। उसी निश्वास से इस आरसी पर दाग लग गया है।

आरसी की उक्ति प्रकट करती है कि 'वदन' जी को हजामत कराते समय यह उक्ति सूझी होगी, या शायद वे स्वयं हज्जाम रहे हों।

अब 'सेनापति' जी की अनोखी उक्ति सुनिये—

कवित्त ॥

बरन्यो कविन कलाधर को कलंक तैसो
को सकै बरनि तिनहूँ की मति छीनी है।
'सेनापति' बरनी अपूरब जुगुति ताहि
कोबिद बिचारो कौन भाँति बुधि दीनी है॥
मेरे जान जेतिक सो सोभा होत जानि परी
तेतिकै कलानि रजनी की छबि कीनी है।
यहुती कै राखे रैनिहू ते दिन हूँ है याते
आगरी मयंक ते कला निकारि लीनी है ॥४१॥

आप कहते हैं कि भाई, मुझे तो यह जान पड़ता है कि जितनी कलाओं से रात्रि की शोभा होते जान पड़ी उतनी कलायें तो ब्रह्मा ने चन्द्रमा में रहने दीं, अधिक कलाओं के रहने से कहीं रात को भी दिन न हो जाय ऐसा विचारकर

अधिक कलायें उसमेंसे निकाल ली हैं, अत: उनका स्थान रिक्त है। वही रिक्त स्थान ही काला दिखाई देता है। क्या ख़ूब! अच्छा जमाखर्च का हिसाब लगाया पंडितजी ने।

चन्द्र-कलंक पर 'केशव' की उक्ति कैसी सुन्दर है—

दोहा।

चारु चन्द्रिका सिन्धु में शीतल स्वच्छ सतेज।
मनो शेषमय शोभिजै हरिणाधिष्ठित सेज॥ ४८॥

मानो सुन्दर चन्द्रिका के क्षीरसिंधु में ठंढी, स़फेद और चमकदार शेष की सेज पर नारायण लेटे हुए हैं। (अर्थात् चाँदनी समुद्र है, चन्द्रमा शेष-शय्या है और कालिमा श्रीनारायण की मूर्त्ति है)

(११) चन्द्र-प्रतिबिम्ब (यमुना में)।

यमुना-जल में पड़ते हुए चन्द्रबिंब पर बाबू हरिश्चन्द्र के अनूठे विचार पढ़िये—

छप्पय।

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जलमधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरङ्ग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रासरमन में हरिमुकुट आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि मूरति बसति वा प्रतिबिम्ब लखात है॥४९॥

चमकता हुआ चन्द्र-प्रतिबिंब यमुना-जल में पडता है, लहरों के हिलने से वह भी हिलता सा जान पडता है। वह कैसा मालूम होता है मानो कृष्ण दर्शन के हेतु चन्द्रमा ही जल में बसता है, या लहर ही अपने हाथ में आरसी लिये है, या रासलीला के समय की कृष्ण-मुकुट की छाया जल में दिखलाई दे रही है, या जल के हृदय में जो कृष्ण मूर्ति ही बसती है उसीका यह प्रतिबिंब दीख पडता है।

कबहुँ होत सत चन्द कबहुं प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्बरूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुनजल लोटत डोलै।
कै तरङ्ग की डोर हिँडोरन करत कलोलै॥
कै बालगुड़ी नभ मैं उडी सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती॥५०॥

हवा के चलने से वह चन्द्र-प्रतिबिंब कभी सैंकडा की सख्या में दिखाई पडता है, कभी छिप जाता है, कभी प्रगट होता है, मानो स्वय चन्द्रमा ही कृष्णानुराग से मस्त होकर यमुना-जल में लोटता फिरता है, या तरग-रूपी डोर के हिँडोरे में झूलता है, या किसी बच्चे की पतग आकाश में उडती हुई इधर-उधर दौड रही है (यमुनाजल आकाश और प्रतिबिंब पतग है), या जल के भीतर ही भीतर कोई ब्रजबाला डोलती हुई आ रही है।

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुनजल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी-नीर तरङ्ग जिते उपजावत।
तितने ही धरि रूप मिलन हित तिनसों धावत॥

कै बहुत रजत चकई चलत कै फुहार-जल उच्छरत।
कै निसिपति-मल्ल अनेक विधि उठिबैठत कसरतकरत ॥५१॥

मानो दोनों पक्ष (कृष्ण और शुक्ल) यमुना-जल में प्रगट होते हैं और फिर मिट जाते हैं, या पूर्ण चन्द्र तारागण को धोखा देने के लिये लुकता और प्रगट होता है, या यमुना जितनी तरंगें पैदा करती है उतने ही रूप धरकर चन्द्रमा उससे मिलने दौड़ता है, या बहुत सी चाँदी की चकैयाँ चल रही हैं या फौवारे के जल में चकैया उछल रही हैं, या चन्द्रमा-मल्ल व्यायाम करने में बैठकें लगा रहा है।

देखा पाठक ! इसे कहते हैं कविता, इसे कहते हैं दिमाग़ जिसमें भावों का ढेर लगा हो।

(१२) चन्द्रास्त।

'केशव' कवि की यह उक्ति कैसी अनोखी है—

दोहा।

जहीं वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवत बिन सम्पति सोभा साज ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—वारुणी = (१) वरुण की दिशा या पच्छिम दिशा, (२) मदिरा। द्विजराज = (१) चन्द्रमा, (२) ब्राह्मण। भगवत = (१) सूर्य, (२) परमेश्वर।

भावार्थ—ज्योंही चन्द्रमा पश्चिम की ओर जाने की रुचि करता है त्योंही सूर्य उसे निष्प्रभ कर देता है, जैसे

ज्योंहीं कोई ब्राह्मण मदिरा की ओर रुचि करता है त्योंही ईश्वर उसे सम्पत्ति और शोभा (ब्रह्म-तेज) से हीन कर देता है।

श्लेष और उदाहरणालङ्कार का सम्मिश्रण इस बारीकी से करना केशव जैसे गुरुघटाल का ही काम है। सहृदय साहित्यज्ञ ही इस का मजा ले सकते हैं।

(१३) चन्द्रोदय।

चन्द्रोदय पर तुलसीदासजी की अनूठी उक्ति देखिये और सराहिये—

दोहा।

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु देख्यो उदित मयंक।
कहत सबहिं देखहु ससिहिं मृगपति-सरिस असंक॥

चौपाई।

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रतापतेज बलरासी॥
मत्त नाग तम कुंभ बिदारी। ससि केसरी गगन बन चारी॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा॥५३॥

शत्रु-देश में (लंका में) विरही राम चन्द्रोदय देखकर कहते हैं—

देखो, यह मयंक मृगपति की तरह निःशंक है—सिंह ही है। बड़ा प्रतापी (तापकर) तेजस्वी और बली है। पूर्व-दिशा-रूपी गिरि गुहा में रहता है। वहाँ से निकल आया है। अन्धकार-रूपी मस्त हाथी का मस्तक फाड़ दिया

है, गगन-रूपी वन में विचरता है, तारागण उसी नभ-गज के मस्तक के मुक्ता हैं जो इतस्ततः बिथुर गये हैं, जिनसे रात्रि-रूपी स्त्री ने सिंगार किया है। इस उक्ति से राम का विरह, शौर्य और रसिकता भली भाँति लक्षित होती है।

वैशाख की पूर्णिमा का चन्द्रोदय 'रघुनाथ' कवि के मुख के सुनिये—

सवैया।

सिगरे दिन बारि पहार समेत तची अति दुस्सह पूषन सों।
भई मैली महा 'रघुनाथ' कहै यह छार बयार के रूखन सों॥
पल डीठि लगाय न जाय लखी
इमि भूमि रही भरि दूषन सों।
सोई लीपत सो ससि आवत है
दिसि भीजी पियूष मयूषन सों॥ ५४॥

समस्त दिन भर सूर्य की धूप से संतप्त होकर जल और थल समेत जो दिशायें तप गयी हैं, और हवा के रूष होने से छार उड़ने से जो मैली हो गई है, पृथ्वी ऐसी खराब हो गई है कि देखी नहीं जाती (देखते बुरी लगती है), उन्हीं दिशाओं और भूमि को अपनी पीयूषपूर्ण किरणों से लीपता हुआ चन्द्रमा आ रहा है (चन्द्रोदय हो रहा है और पृथ्वी तथा दिशाओं में ठढक फैल रही है)।

उदय-समय का लाल चन्द्रमा पूर्व दिशा में देखकर 'मुकुन्द' कवि अनुमान लड़ाते हैं —

सवैया

पिय देखत मानो रमा उनकी मुख कुंकुम-रंजित भ्राजत है।

रजनी उर को अनुराग यहै किधौं मूरतिवंत विराजत है॥
किधौं पूरन चंद सुछंद उदोत 'मुकुंद' महै सुख साजत है।
किधौं प्राची दिसा नव बाल के भाल
गुलाल को बिन्दु बिराजत है॥ ५५॥

मानो लक्ष्मी खिड़की से झाँककर अपने प्रियतम को देखती हैं उसीका कुंकुम-रंजित मुख है, या रात्रि के हृदय का मूर्तिमान् अनुराग है, या पूर्ण चन्द्र उदित हुआ है, या प्राची दिशा-रूपी नव वधू के भाल में गुलाल की बिंदु है।

(१४) चकोर।

एकांगी प्रीति में क्या नहीं करना पड़ता? चकोर आग क्यों खाता है इसका कारण सुनिये और सराहिये—

दोहा।

प्रिय सों मिलौं, भभूत बनि ससिसेखर के गात।
यहै बिचारि अँगार को चाहि चकोर चबात॥ ५६॥

अंगार खाकर मैं भस्म हो जाऊँ। शायद उस भस्म को महादेवजी मस्तक पर लगा लेंगे, तो वहाँ मैं अपने प्रिय चन्द्रमा से मिल जाऊँगा, यह विचारकर चकोर अंगार खाता है।

असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षालंकार की छटा देखिये। अभिलाषा और प्रीति की दृढ़ता और उग्रता पर विचार कीजिये।

(१५) चाँदनी।

पाठक! अब जरा 'घनानन्द' के साथ चाँदनी का भी लुत्फ़ उठाइये—

सवैया।

फैल रही धर अंवर पूर मरीचिन बीचिन संग हिलोरति।
भौंर भरी उफनात खरी सु उपाव की नाव तरेरन तोरति॥
क्यों बचिये भजिहू 'घनआनँद' वैठि रहे घर पैठि ढँढोरति।
ओन्ह प्रलै के पयोनिधि लौं
बढि बैरिनि आजु वियोगिन बोरति॥५७॥

चाँदनी जमीन और आसमान में भर रही है, किरण-रूपी लहरें हिलोरे मार रही हैं, भ्रमर उड रहे हैं, वही मानो भँवर हैं। खूब उफनी पडती है, उपाय की नाव अपनी तेजी से तोड डालती है। भगकर भी उससे नहीं बच सकते। घर के भीतर घुस रहें, तो वह भी भीतर घुस हमें ढूँढती है। यह चाँदनी तो आज प्रलय का समुद्र बन गई है और वियोगियों को डुबाना चाहती है।

शरद ऋतु की चाँदनी का कुछ वारापार नहीं रहता। उस समय सचमुच ही चाँदनी का समुद्रसा उमड पडता है। अनुभवी जन ही इसका अनुमान कर सकते हैं।

नागरीदासजी कहते है—

सवैया।

छाई छपा दिन ज्यों दरसी मिलि
कै चकवान वियोग विसारयो।

सौगुनो बाढ़यो प्रकास दिसान में
चौगुनो चाव न जात उचारयो ॥
कैसी खिली है अलौकिक चाँदनी
'नागर' ताको विचार विचारयो ।
राधे जू ऊँचे अटा चढ़िकै कहुँ
आजु निलाम्बर घूँघुट टारयो ॥ ५८ ॥

चाँदनी से रात्रि भी दिन हो गई है, चकवाकों को धोखा हो गया और वे वियोग को भुलाकर एकत्र हो गये हैं। दिशाओं में सौगुने प्रकाश और चित्त में चौगुने हर्ष का विकाश हो रहा है जो कहते नहीं बनता। कैसी अलौकिक चाँदनी खिली है। जान पड़ता है कि ऊँचे अटा पर चढ़कर आज राधिकाजी ने अपने मुख से नील सारी का घूँघट हटा दिया है, उन्हीं के मुख की कान्ति से यह चाँदनी हो रही है, नहीं तो चन्द्रमा में इतनी ज्योति कहाँ ?

वही नागरीदासजी फिर कहते हैं—

कवित्त।

पूरन सरद ससि उदित प्रकासमान
कैसी छवि छाई देखो विमल जुन्हाई है।
अवनि अकास गिरि कानन औ जल थल
व्यापक भई सो जिय लागत सुहाई है ॥
मुकुता कपूरचूर पारद रजत आदि
उपमा ये उज्जल पैं 'नागर' न भाई है।
वृन्दावन-चन्द चारु सगुन विलोकिबे को
निरगुन ज्योति मानो कुञ्जन में आई है ॥५९॥

(१६) जुगनू।

'रामसहाय' जी कहते हैं—

दोहा।

ए जीगन न उडाहि री विरहजरीहि जराय।
फूल आ री मदनागि की चिनगारी रहिँ छाय ॥६२॥

कोई विरहिनी नायिका अपनी सखी से कहती है—यों मदनाग्नि की चिनगारियाँ इधर फैल रही हैं, 'ये जुगनू नहीं हैं। तू भीतर भाग आ, नहीं तो तू भी जल जायगी।

'विहारी' की विरहिनी जुगनू में चिनगारी नहीं, अँगार देखती है—

दोहा।

विरह जरी लखि जीगननि कही न ओहि कै बार।
अरी आउ भजि भीतरै बरसत आजु अँगार ॥ ६३ ॥

विरह से सतप्त होकर उसने कई बार अपनी सखी से कहा कि अरी सखी, भीतर भाग आ, आज तो आकाश से अगार बरस रहे हैं।

'रामसहाय' की विरहिनी से विहारी की विरहिनी बहुत बढ़ी-चढ़ी जान पडती है। उसे जुगनू चिनगारी ही जँचती है, पर इसे वह अगार सी जान पड़ती है।

'गंग' कवि अकबर के दरबार में रहते थे। इन्हें जुगनू के रूप में सेना की बात सूझी—

सवैया।

निसि नील नये उनये घन देखि फटीं छतियाँ ब्रज-बालन की।
कवि 'गंग'तन-द्यु ति छीन भई सुथरी छवि देखि तमालनकी॥
दसहू दिसि जोति जगामग होत अनूपन जीगन-जालन की।
मनो काम चमू है चढ़ी, किरचैं उचटैं कलधौत के नालन की॥६४

वर्षा की रात में काली घटा उनई देख ब्रज-बालाओं को अत्यन्त दुःख हुआ। तमालों की सुन्दर छवि देख (कृष्ण की याद में) उनकी तन-द्युति मलीन हो गई। उस समय सभी ओर जुगनू झमकती देख उन विरहिनियों को ऐसा जान पड़ा मानो काम की सेना ने चढ़ाई की है और ये जुगनू उसीकी स्वर्ण-तोपों की उचटती हुई किरचें हैं।

'परमेश' कवि ने भी 'विहारी' ही की राय मान ली है—

कवित्त।

पौन हहराई बन बेलि यहराई लह-
　　राई घन सौरभ कदम्बन की सान ते।
झिल्ली झननाई पिक चातक चिघाई उठै
　　बिज्जु छहराई छाई कठिन कृपान ते॥
कहै 'परमेश' चमकत जुगनून चाय
　　मेरे मन आई ऐसी उक्ति अनुमान ते।
बिरही दुसारे तिनपर क्रूर दईमारे
　　मानो मेघ बरसैं अँगारे आसमान ते॥६५॥

अर्थ सरल ही है।

विरहियों की कान्ति जाती रही है) । नवला स्त्रियों को बहकाकर जबरदस्ती उनकी लज्जा हरण की (दादुर की बोली सुनकर नवला स्त्रियाँ भी जी खोलकर मलार इत्यादि गाने लगीं) । इन दादुरों ने पुकार २ कर मानिनी नायिकाओं का मान छुटा दिया । बिना जीभ का होने पर भी जो जी में आता है सो बोलता है, अच्छा हुआ जो ब्रह्मा ने इसे जीभ नहीं दी (जीभ मिली होती तो न जाने कौन से वचन बोलकर क्या कर डालता) ।

एक कवि की राय है कि—

शोर मचाय कै दादुर मूढ जरे पर लोन लगावत है।
पीतम सों बिछुरी जो तिन्हैं बध को जनु ढोल बजावत
है ॥ ६९ ॥

यह मूढ दादुर शोर क्या करता है मानो जले पर नमक छिड़कता है (विरह-व्याधि को बढ़ाता है) । इसका बोलना मानो विरहिनियों के वध की डोंडी है ।

(१८) नदी ।

'केशव' ने सरयूजी के विषय में यह उक्ति कही है, पर यह सभी पवित्र नदियों पर घटित हो सकती है—

अति निपट कुटिल गति यदपि आप ।
वह देत शुद्ध गति छुवत आप ॥
कछु आपुन अध अध गति चलन्ति ।
फल पतितन को ऊरध फलन्ति ॥७०॥

यद्यपि आप अति कुटिल-गामिनी है, तथापि दूसरों को पानी छूते ही शुद्ध गति देती है। आप तो नीचे को जाती हैं, पर उन पतितों को जो उसमें स्नान करते हैं ऊर्द्ध्व गति देती है। कैसी सुन्दर विरोधाभास अलङ्कार है।

(१९) पवन।

पवन को दूत बनाकर घनानन्दजी कहते हैं—(स्मरण रखना चाहिये कि घनानन्दजी अपने प्रेम-पात्र को 'जान' या 'सुजान' लिखा करते थे)

कवित्त।

ए रे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी
तो सो और कौन मनैं ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सो समान घन-
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि
धूरि तिन पाइन की हा हा नेकु आनि दै॥ ७१॥

हे भाई पवन, तुम सब ओर जाते हो, मैं बलिहार जाऊँ, तेरे समान उपकारी दूसरा कौन है, जरा अपनी दयालु प्रकृति की ओर ध्यान दे। तू जगत का प्राण है, छोटे बड़े सबके साथ तेरा एकसा भाव है। दुखियों को सुख का दान कर। अति उजियारे, गुणपूर्ण और मेरे अति प्यारे

'द्विजदेव' कवि का भी वही अनुमान है, पर उसके साथ कुछ और भी छटा है। किसी उपवन की प्रशंसा में आप कहते हैं—

कवित्त।

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ ना गौन।
'द्विजदेव' त्यौंही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥ ९४॥

स्वर के ही भार से वहाँ के शुकों का शब्द बाहर नहीं जाता (वैसा मधुर शब्द वहीं सुनाई पड़ता है, अन्यत्र नहीं), मोगरा, मरुआ, दौना के वृक्ष मकरंद के भार से झुक गये हैं, नेत्र खोलकर देखता हूँ कि वहाँ के प्रत्येक भवन की उपमा अपूर्व है, और चाँदनी ही के भार से चन्द्रमा वहीं झुका सा जान पड़ता है और गंध के भार से वहाँ का पवन भी मंद गति से चलता है (इतनी सुगंध है कि हवा भी उसे नहीं ढो ले जा सकती)।

'शेख' (रँगरेजिन, आलम कवि की स्त्री) पवन को पत्र-वाहक परेवा के रूप में देखती है। वसंत-वायु का वर्णन है—

कवित्त।

सघन अखंड पूरि पंकज पराग पत्र
अच्छर मधुप शब्द घंटा रहनातु है।
विरमि चलत फूली बेलिन के बास रस
मुख के सँदेसे लेत सबन सुहातु है॥
'सेख' कहैं सीरे सरवरन के तीर नीर
पीवतन परसत हिय सियरातु है।
आवत बसंत मनभावन मनोज तन
पवन परेवा जनु पाती लिये जातु है॥७५॥

पंकज-पराग से वायु परिपूर्ण है, वही पराग मानो पीले कागज पर लिखी हुई चिट्ठी है, हवा में उड़ते हुए भौंरे ही पत्र के काले अक्षर हैं, भ्रमर-गुंजार ही परेवा के पैरों गले में बँधी हुई बजती हुई पैंजनियाँ हैं, फूली हुई बेलियों में रुक रुक कर चलता है, उनका सुगंध और रस लेता है यही मानो ज़बानी सँदेसा लेना है, जिससे वह सबको भाता है। ठंडे तालाबों से पानी पीता आता है जिससे उसका हृदय शीतल रहता है। यह बसंत-पवन मनभावन बसंत के आने की खबर देने के लिये कामदेव की सेवा में पत्र लिये जा रहा है।

वियोगियों के लिये बसंत-पवन तलवार का काम करती है। 'किशोर' कवि का यह कथन भी विचित्रता से खाली नहीं—

मलयजगिरि-तरु कोश ते कढ़ी है चढ़ी
मंजु मकरंद पुंज पानिप अपार सी।

कहत 'किसोर' चारो ओरन विषम वेष
प्रबल प्रचड पेख झरपत झार सी॥
अलि विष बूड़ी बलि करत कहर तापे
सौरभ की लहर धरी है खरी धार सी।
रहत न रोकी बहै चहत वियोगिन पै
बैहर बसत की तिरीछी तरवार सी ॥७६॥

बसतागमन के चिह्न देखकर किशोर कवि कहते है कि बस, अब देर नहीं है। पवन तिरछी तलवार सी वियोगियों पर पड़ने ही चाहती है। वह तलवार कैसी है कि मलयगिरि के वृक्ष-रूपी खड्गकोश (मियान) से निकल चुकी है, उसपर पुष्प-रस का अच्छा पानी चढाया गया है, चारोंओर विषम रूप से अग्नि ज्वाला सम चमकती है, भौर-रूपी विष में डुबोई गई है (वसन्त-पवन मे भौंरे उडते है, विष का रंग काला माना गया है), अत. कहर सी करती है, तिसपर सुगंध की तेज धार है। बस, अब रुकती नहीं, चलना ही चाहती है और वियोगी मारे जावेंगे।

मद पवन पर 'विहारी' के ये तीन दोहे भी कमाल के हैं—

रुनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज-समीर ॥ ७७॥

अर्थ सरल है।

दान = गजमद। मधुनीर = मकरंद। रुनित = बजाता हुआ।

रुक्यो साँकरे कुंजमग करत झाँझ झुकरात।
मंद मंद मारुत तुरंग खूँदिन आवत जात॥ ७८॥
अर्थ सरल है।

चुवत स्वेद मकरंद कण तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दच्छिण देश ते थक्यो बटोही वाय॥ ७९॥
अर्थ सुगम है।

(२०) पलास।

पलास-कलिका पर 'माधव' कवि की उक्ति देखिये। पलास-कलिका काली होती है, इसलिये—

सवैया।

आली सुनौ बनमाली वियोग
पलास के पुंजन को सुख भागो।
पात सुखाय गिरे महि आन
लतान मे, स्यामता को रँग रागो॥
धीर धरे ठहरात न 'माधव'
मैन को दारिम जोर है जागो।
भामिनी भौन मे भागि चलौ फिरि
आगि उठैगी धुँवा उठै लागो॥ ८०॥

हे आली! वनमाली (कृष्ण) के वियोग से अब ये पलाश-पुञ्ज अच्छे नहीं लगते। पत्ते सूखकर गिर गये हैं, टहनियों में कुछ काला रंग आ गया है। इन्हें देखकर मेरा धीरज छूटा जाता है, काम का प्रबल प्रभाव चित्त को

उत्तेजित कर रहा है। हे स्त्रियो! घरों के भीतर भाग चलो, अभी तो धुवाँ ही उठ रहा है, अभी आग भभकने लगेगी (जो हमको जला देगी)।

पलास-पुष्प पर एक दूसरे कवि की उक्ति सुनिये—

दोहा।

ये नहिं किंशुक सुमन कहि कह झुमनन मे झार।
प्रान बटोहिन के बिरह जरि वरि भये अँगार ॥ ८१ ॥

ये पलास-पुष्प नहीं हैं। यदि हैं, तो तुम्हीं बताओ क्या फूलों में अग्नि की सी झार होती है? ये तो वियोगी प्रवासियों के प्राण हैं जो प्रिय-वियोग से जलकर अगार-वत् हो गये हैं।

'नरेश' कवि एक विरही के मुख से कहलाते हैं—

सवैया।

झोरि से कौने लये वन बाग ये कौने जु आमन की हरियाई।
कोयल काहे कराहति है वन कौने चहूँ दिस धूरि उड़ाई॥
कैसी 'नरेश' बयारि बहै यह कौन धौ कौन सो माहुर नाई।
हाय न कोऊ तलास करै ये पलासन कौने दवारि लगाई ॥८२॥

इन वन-बागों को किसने झोर सा डाला है (पत्ते गिरा दिये हैं), आमों की हरियाली किसने नष्ट कर दी है, कोयल क्यों कराहती है, वन में कौन चारोंओर धूल उड़ा रहा है, कैसी हवा बहती है, न जाने इसमें किसने कौन सा विष मिला दिया है। हाय! हाय! कोई यह भी पता नहीं लगाता कि इन पलासों में आग किसने लगा दी है।

वसतागमन से विरही विकल होकर प्रलाप कर रहा है। फूले पलास उसे जलते से जान पडते है।

नोट—पलास पुष्प पर और अनोखी उक्तियाँ वसत ऋतु के वर्णन में "ऋतुवार" में देखिये।

'केशव' कवि का भी यही अनुमान है—

पालासमाल बिन पत्र विराजमान ।
मानहु वसंत दिय कामहिं अग्निवान ॥ ८३ ॥

फूले हुए पलास सब बिना पत्र के है (शाखों पर केवल लाल फूल लदे हैं)। वे पुष्प-युक्त शाखें जान पडती हैं मानो वसत ने काम को अग्नि-वाण दिये हैं, अर्थात् फूली हुई पलास-शाखाये अग्निवाण-सम हैं।

(२१) प्रभात ।

प्रभातकाल पर तुलसीदासजी के विचारों का मजा लीजिये—

कोक गतशोक अवलोकि शशि छीन-छवि,
अरुणमय गगन राजत रुचिर तारे ।
मनहुँ रवि बाल-मृगराज तम-निकर करि,
दलित अति ललित मणिगन बिथारे ॥ ८४ ॥

सूर्योदय हो रहा है। चकवाकों को देखिये, गत शोक हो गये हैं, चन्द्रमा छवि-हीन है, सारा पूर्वीय आकाश अरुणप्रभा होगया है, उस अरुण प्रभा में कहीं कहीं दो चार

सितारे चमक रहे हैं, वे कैसे सुन्दर जान पड़ते हैं मानो सूर्यरूपी सिंह के बच्चे ने अंधकार-रूपी हाथी को मारकर गजमुक्ता बिखेर दिये है।

पुनश्च—

सरनि बिगसित कंज पुंज मकरन्द भर,
मंजुतर मधुर मधुकर गुँजारे।
मनहुँ प्रभुजन्म सुनि चैन अमरावती,
इन्दिरानन्द मन्दिर सँवारे ॥ ८५॥

तालाबों में मकरंद-भरे कमल-पुष्प खिलने लगे, उनपर मधुर गुंजार से भ्रमर मँडराने लगे, मानो प्रभु का जन्म-सम्वाद पाकर अमरावती में समस्त देवता प्रसन्न होकर चैन की वंशी बजाते हैं, और लक्ष्मी ने आनन्द मनाने के लिये अपना आनन्द-भवन (कमल) सजाया है।

सुनहु तमचुर मुखर कीर, कलहंस, पिक,
केकिरव कलित बोलन बिहँग-बारे।
मनहुँ मुनिवृन्द रघुवंशमणि रावरे
गुनत गुण आश्रमनि सपरिवारे ॥ ८६॥

तमचुर = (ताम्रचूड) मुर्गा।

सुनिये, मुर्गा बोल रहा है, शुक, पिक, हंस और मोर और इनके बच्चे मधुर शब्द करने लगे मानो मुनि-वृन्द अपने परिवार-वर्ग सहित अपने अपने आश्रमों में राम-यश गा रहे हैं।

पुन शान्त रस की उक्ति सुनिये—

अरुण उदित विगत सरवरी शशाक किरिनिहीन,
दीन दीपजोति मलिन दुति समूह तारे।
मनहुँ ज्ञान घन प्रकार बीते सब भवविलास,
आस त्रास तिमिर तोष तरनि तेज जारे ॥ ८७ ॥

अरुणोदय हुआ, रात्रि (शर्वरी) बीत चुकी, चन्द्रमा प्रभाहीन होगया, दीपक की ज्योति मन्द पड गई, तारे मलीन हो गये मानो घने ज्ञान के प्रकाश से सारे सांसारिक विलास मिट गये, आशा और भय-रुपी अन्धकार को सतोष-रूपी सूर्य के तेज ने जला दिया।

उप काल की लालिमा पर 'देव' जी की उक्ति सुनिये—

सवैया

वा चकई को भयो चितचीतो
चितौति चहूँ दिसि चाय सो नाँची।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला
जामिनी जोति मनो जम जाँची ॥
बोलत बैरी बिहगम 'देव' सँजोगिन की भई सम्पति काँची।
लोहू पियो जो वियोगिन को
सो कियो मुख लाल पिशाचिन प्राची ॥८८॥

चकई की मनभाई बात हो गई (प्रात काल होगया), चारोंओर प्रकाश देखकर वह आनन्द से नाच उठी, चन्द्रमा की छवि क्षीण हो गई, रात्रिश्री (अधकार) को यमराजजी माँग ले गये (रात्रि मर गई), सयोगिनी स्त्रियों के शत्रु पक्षी बोलने लगे (पक्षियों का चहचहाना सुनकर सयोगी दम्पति पृथक होते हैं), सयोगियों की सम्पत्ति (मिलनसुख) कच्ची

पड गई। ऐसे समय की अरुणिमा को देखकर देव को ऐसा जान पडा कि मानो प्राची दिशा एक पिशाचिनी है, जिसने वियोगियों का रक्तपान किया है, इसीसे उसका मुख लाल हो गया है।

अब 'केशव' का भी कमाल देखिये। प्रभात-वर्णन के साथ ही संसार के अनुभव और हृदयग्राही उपदेशों की छटा देखिये—

गगन उदित रवि अनन्त शुक्रादिक ज्योतिवत
छन छन छवि छीन होत लीन पीन तारे।
मानहुँ परदेश देश ब्रह्मदोष के प्रवेश
ठौर ठौर ते बिलात जात भूप भारे ॥ ८९ ॥

आकाश में सूर्योदय होते समय शुक्रादिक अनेक चमकीले और बडे तारे प्रति क्षण ज्योति-हीन होते जाते हैं, मानो ब्रह्मदोष से बडे बडे राजा परदेश में भग जाने पर वा देश में ही रहकर विनष्ट हो रहे हों।

अमल कमल तजि अमोल मधुप लोल टोल टोल,
बैठत उडि करि कपोल दान मानकारी।
मानहुँ मुनि ज्ञानवृद्ध छोडि छोडि गृह समृद्ध
सेवत गिरिगण प्रसिद्ध सिद्धि सिद्धिधारी ॥
तरणि किरणि उदित भई दीपज्योति मलिन भई,
सदय हृदय बोध उदय ज्यों कुबुद्धि नाशै।
चक्रवाक निकट गई चकई मन मुदित भई
जैसे निज ज्योति पाइ जीव ज्योति भासै ॥ ९० ॥

निर्मल और अमोल कमलों को छोड छोडकर चचल भौरों के झुड हाथियों के गजमद-युक्त कपोलों पर जा बैठते हैं, क्योंकि वह दान (गजमद) देकर सम्मान करता है। यह घटना ऐसी मालूम होती है मानो ज्ञानी मुनिजन और प्रसिद्ध सिद्ध लोग अपने अपने घरों की सपत्ति छोड छोडकर सिद्ध-प्राप्ति-हेतु पहाड पर आ बैठे हों।

सूर्य की किरणें निकलीं और दीपक की ज्योति मद हो गई, जैसे ज्ञान का उदय होने से कुबुद्धि नष्ट होती है। चकवाकी चकवाक के निकट जाकर आनन्दित होती है, जैसे निज प्रकाश पाकर (अपना असली तत्त्व-ज्ञान पाकर) जीव आनदित होते हे।

प्रात वर्णन के साथ ही साथ कैसा अच्छा उपदेश भी मिलता जाता है।

अरुण तरणि के विलास एक दोइ उडु अकाश
कलि कैसे सन्त ईश दिशन अन्त राखे।
दीखत आनन्दकन्द निशि विन द्युतिहीन चन्द
ज्यों प्रवीन युवतिहीन पुरुप दीन भाखे॥
निशिचर-चय के विलास हास होत है निराश
सूर के प्रकाश आस नाशत तम भारे।
फूलत शुभ सकल गात अशुभ शैल से विलात
आवत ज्यों सुखद रामनाम मुख तिहारे॥ ९१॥

उप काल के प्रकाश से आसमान में कहीं दो एक सितारे रह गये ह, जैसे कलिकाल में कहीं २ सच्चे सत मिलते हैं। आदित चन्द्रमा रात्रि बीत जाने के कारण

ज्योति-हीन होगया है, जैसे चतुर स्त्री के मर जाने से कोई पुरुष दीन-हीन हो जाता है (खूबी यह है कि रात्रि भी चन्द्रमा की स्त्री ही कही गई है)। निशिगामी जनों (चोर, व्यभिचारी इत्यादि) के हास-विलास नष्ट हो जाते हैं और सूर्य के प्रकाश से भारी अंधकार भी डरकर नष्ट हो जाता है। सूर्योदय होते ही शुभ कार्य (जप, तप, दान, स्नान इत्यादि) प्रफुल्लित होते हैं (होने लगते हैं) और बड़े बड़े अशुभ कार्य (चोरी, हिंसा, व्यभिचारादि) विलीन हो जाते हैं, जैसे राम का नाम लेने से सब शुभ मंगल उदय होते हैं और अमंगल का नाश होता है।

सारो शुक शुभ मराल केकी कोकिल रसाल
  बोलत कल पारावत भूरि भेद गुनिये।
मानहुँ मदन पंडित ऋषि शिष्य गुनन सहित
  करि अपनी गुदरैन दैन पठयो प्रभु सुनिये ॥ ९२ ॥

सारिका, सुग्गे, हंस, मोर, कोकिल रसीली वाणी बोलने लगते हैं, मधुर भाषी परेवा भी अनेक भाँति की बोली बोलने लगते हैं। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो काम-पंडित या कामऋषि ने अपने गुणी शिष्यों के द्वारा अपनी विनती कहला भेजी है, वही वे सुना रहे हैं (सो हे रामजी, आप सुन लीजिये)।

कहिये पाठक ! कैसा सच्चा, स्वाभाविक, पूर्ण, उपदेश-युक्त और रसीला प्रभात-वर्णन है।

(२२) वक ।

बगले का मुंह काला होना है। क्यों? इसका मर्म 'रसनिधि' जी से सुनिये—

दोहा।

बैठत इक पग ध्यान धरि मीनन को दुख देत।
बक-मुख कारो ह्वै गयो 'रसनिधि' याही हेत ॥ ९३ ॥

ध्यान लगाये हुए एक पैर से खड़ा रहता है (साधु होने का आडम्बर दिखाता है), पर मछलियों को सताता है इसीसे वक का मुँह काला है।

जरूर, ऐसों का मुँह काला होना ही चाहिये।

(२३) बवंडर-रज ।

प० प्रयागनारायण मिश्र (लखनऊ) की उड़ान देखिये—

ग्रीषम धरनि तपत बिरहागिन पिय हित जब अकुलावे।
आँधी बौंडर रेणु रूप धरि चढ़ि नभ खोजन जावे ॥ ९४ ॥

ग्रीष्म ऋतु में बवंडर उठा करते हैं। इसपर आपका अनुमान है कि ग्रीष्म में जब पृथ्वी बिरहाग्नि से सतप्त होकर व्याकुल हो उठती है तब आँधी बौंडर की सहायता से अपने प्रियतम (जल) को ढूंढने के लिये आकाश तक दौड़ लगाती

है। ग्रीष्म के बाद ही वर्षा होती है, इस कारण यह उक्ति कैसी अनूठी और प्राकृतिक जान पड़ती है।

(२४) भ्रमर।

कविरत्न प० सत्यनारायणजी भ्रमर और कृष्ण की समता दिखलाते हैं—

तेरो तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतै सुनि।
तेरी गुंजन सुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि॥
पीत रेख तव कटि बसत, उत पीताम्बर धारु।
विपिन-विहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगारु॥
जुगुल रस के चखा॥ ९५॥

हे भ्रमर, तू भी काला है और कृष्ण भी काले हैं, तेरी गुंजार सुरीली है और उनकी मुरली की ध्वनि भी सुरीली है, तेरे पीत रेखा है और वे भी पीताम्बर पहनते हैं। दोनों विपिन-विहारी हो। सिंगार भी एकसा है और दोनों रस के चखने वाले हो।

कैसी सुन्दर समता है!

भ्रमरावली (शरद-निशा में)

सेत पहार अगार भये अवनी जनु पारद माहि पखारी।
रास की इंदु उदोत लसै चहुँ ओर तै सोर चकोर को भारी॥
फूली कुमोदकनी निशाली भवली अलि की अलि में निरधारी।
कोपि कै चन्द तियान के मान पै आजु मियान तें तेग
निकारी॥ ९६॥

शरद का चन्द्रमा उदय हुआ, चूने से पुते हुए मकान सफेद पहाड से जान पडे, सारी पृथ्वी पारे से धुली हुई दिखाई देने लगी, चारोंओर चकोरों का शोर होने लगा। कुमुदिनी की कलियाँ खिलीं तो उनमेंसे भ्रमरावली निकली। वह मुझे ऐसी मालूम हुई मानो मानिनी स्त्रियों पर क्रुद्ध होकर चन्द्रमा ने मियान से तलवार निकाली हो। वाह!

(२५) मेघ।

'घनानन्द' जी मेघ को दूत बनाते हैं और कितना हलका काम बताते है, पर यही हलका काम कितना प्रभावजनक है यह बात प्रेमी ही जान सकता है—

सवैया।

परकारज देह को धारे फिरो परजन्य यथाविधि ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान करौ सबही विधि सुन्दरता सरसौ।
'घनआनँद' जीवनदायक ह्वै कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥ ९७॥

'परजन्य' और 'जीवनदायक' शब्द ही इस छंद की जान हैं—

हे मेघ, तुम परजन्य (परोपकार के लिये जन्म लेने वाले) हो, समुद्र के खारे पानी को भी मीठा कर देते हो, बड़े सुन्दर हो, कुछ मेरी पीडा भी समझो, तुम जीवन-

दायक (जलदाता और जीवनदाता) हो, कभी मेरे आँसुओं को लेकर उस घातक सुजान (मेरे प्रेमपात्र) के आँगन में जा बरसाओ (वह सुजान है, शायद इससे मेरी पीडा की खबर उसे हो जाय)।

अब 'ठाकुर' की सूझ देखिये—

कवित्त।

ओपे से अनल झला झलक के टोपे से वे
विधि कारीगर ने विचित्र विसतरे हैं।
रगत गरूरे लाल लहर ललाम लोने
छवि की उमगन सुहाये जल भरे हैं॥
'ठाकुर' कहत पूरे पानिप के मेरी वीर
सुखमा भरे हैं लाते उपमान करे हैं।
पावस फकीर के कै मदन अमीर के ये
वासन चिनी के नीके ठौर ठौर धरे हैं॥ ९८॥

ठाकुर कहते हैं कि ये बादल नहीं वरन् पावस-फकीर के या मदन-अमीर के चीनी के घडे हैं जो बहुत चमकदार, सुन्दर और जल-पूर्ण हैं।

'रसिकविहारी' जो अनुमान करते हैं—

कवित्त।

कैधौं विरही के प्रान दाहे धूम धूँधुर ये
कैधौं हैं सपक्ष गिरि चहत उतग हैं।
कैधौं ऋतु पावस के विविध वितान तने
कैधौं नभमंडल में तरल तुरग हैं॥

'रसिकविहारी' कैधौं बालक निसा के नव
किधौं बरसा के दूत डोलत सुढग है ।
कैधौं जुग मास के विलास के भवास सोहै
छूटे किधौं मदन महीप के मतग है ॥ ९९ ॥

क्या ये बादल है या विरह-दग्ध वियोगियों के प्राणों का धुआँ है ? क्या सपक्ष पर्वत उड रहे हैं या पावस ऋतु के तबू तने है ? क्या आकाशचारी कोई चचल घोडे हैं या रात्रि के नवजात बालक है (क्योंकि काले है) ? क्या वर्षा के दूत हैं या वर्षा के दो मासों (सावन-भादों) के रहने के मकान हैं या मदन-महीप के मस्त हाथी है ?

'ठाकुर' की दूसरी उक्ति सुनिये और मजा लीजिये—

कवित्त ।

चौक आसमान मे अनेक सौक साहबी के
गाहक रिझाइबे के ब्योंत विस्तारे है ।
कोई लाल पीरे कोई सेत नीले धारीदार
कोई रग सेदर के कोई धुवाधारे हैं ॥
'ठाकुर' कहत देखि बादर अनेक रग
मन मनसूबा कै विचार ये विचारे है ।
बादर न होहि यह भाँतिन के रेजा ये
असाढ रँगरेजा रँग सूखिबे को डारे हैं ॥१००॥

ये बादल नहीं है, वरन असाढ़ रँगरेज ने आस्मान चौक में अनेक प्रकार के कपडे, भिन्न भिन्न रगों में रँगकर, डाले है ताकि देखनेवाले ग्राहक रग पसन्द करके अपने अपने कपडे रँगाकर मेरी कद्रदानी करें और मेरी प्रतिष्ठा और जीविका बढ़ावें ।

असाढ के बादल कई रंग के होते है। यही अ
भव प्रगट करने के लिये ठाकुर ने यह कवित्त रचा है
कविता के मुख्य तीन उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह है
पाठकों को संसार के अनुभव बतलाये जावें।

(२६) मोर।

मोर पक्षी को सब लोग मोर क्यों कहते है इसक
कारण तुलसीदासजी यों बताते हैं—

दोहा।

तन विचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर।
'तुलसी' हरि भये पक्षधर, ताते कह सब 'मोर' ॥ १०१॥

चितकबरा शरीर, वचन कायरों केसे, भोजन स
और निर्दय मन। कितना बुरा जीव है, पर जबसे श्रीकृष्ण
ने इसका पक्ष धारण किया तब से लोग इसे मोर (मेरा)
कहने लगे। धन्य री सूझ! कैसा बढ़िया निरुक्ति अलकार है!

अब अम्बिकादत्त व्यास का कथन सुनिये—

मोर सदा पिउ पिउ करत, नाचत लखि घनश्याम।
यासों ताकी पाँखहूँ, सिर धारी घनश्याम ॥ १०२

मोर सदा 'प्रिय, हे प्रिय' कहकर घनश्याम (का
बादल) को देखकर आनद से नाचता है, इसीसे घनश्या
(कृष्ण) ने आदर से उसके पंख शिरोधार्य किये हैं। प्रे
का अच्छा बदला है। प्रत्यनीक और अन्योन्य अलकारों
कैसा अच्छा सम्मिश्रण है।

(२७) मोर-पंख।

मोरपंख पर 'दिनेश' जी की अनूठी उक्ति सुनिये—

सवैया।

भूरि भुजगन खायकै नीके अघाय कै मोरन जाहि बढ़ाई।
त्यों विषधारी विमोहन की सब रीति जिन्हें सुख पाइ पढ़ाई।
देखु 'दिनेश' मयूर के पाँख ये होहिँ न क्यों ब्रज को दुखदाई।
आली इते पर आदर कै जिन्हें साँवरे बावरे मूँड़ चढ़ाई॥१०३॥

बहुत से साँपों को भरपेट खाकर जिसे मयूरों ने बढ़ाया है, विष की सी विमोहिनी रीति जिसको पढ़ाई गई है, ऐसे मोरपंख ब्रज-युवतियों को क्यों दुखदायी न हों (होना ही चाहिये)। इतने पर तुर्रा यह कि श्याम सलोने कृष्ण ने इस पागल को सिर चढ़ा रखा है (तो क्यों न गजब ढाहें)।

गजब की सूझ है।

(२८) वनश्री *।

इस वनश्री को देखिये—

कवित्त।

कुल तमाल कुन्द लकुच रसाल तरु
मंडित लतान लेस रवि के न ओज को।

* नोट—प्रत्येक ऋतु में वनश्री भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। ऋतु-वर्णन इसीके अन्तर्गत जानना चाहिये।

यह वनश्री किसी सौभाग्यवती सधवा स्त्री के समान दीप्तिमान है, क्योंकि यहाँ सिंदूर की तिलकावली है। (सिंदूर और तिलक नामक वृक्ष भी वन में होते हैं और सधवा स्त्रियाँ सिंदूर से माँग भरती हैं)।

फिर 'केशव' की कारीगरी देखिये —

राजति है यह ज्यों कुलकन्या। धाइ विराजति है सँग धन्या॥
केलिथली जनु श्रीगिरिजा की। शोभ धरे शितकंठप्रभा की॥१०८

यह वनश्री कुलीन कन्या के समान है, क्योंकि इसके साथ धाय सदा रहती है। (वन में धाइ वृक्ष होते हैं, कुलीन कन्याओं के साथ भी धाय रहती है)

यह वनश्री श्रीगिरिजा की केलिथली के समान है, क्योंकि यहाँ शितकंठप्रभा की शोभा है। शितकंठ का अर्थ है—१ महादेव, और २ मोर।

जैसे गिरिजा की केलिथली में महादेवजी रहते हैं, वैसे ही यहाँ मोर रहते हैं। धाय और शितकंठ शब्दों के श्लेष-बल से केशव ने अपना कमाल दिखलाया है।

(२९) वीरबहूटी।

एक कवि एक विरहिनी का विचार प्रकट करता है—

दोहा।

छन-परभा के छल रही, चमकि मार-करवार।
बीरवधू के ब्याज री, दहकत आजु अँगार॥ १०९॥

बिजली के मिस काम की तलवार चमक रही है और वीरबहूटी के बहाने अङ्गार दहक रहे हैं। ये वस्तुएँ विरहियों को दुखदायी हैं।

"रसरास" कवि की मनोहर सूक्ति सुनिये—

कवित्त।

सावन सजल घन बरसैं अखण्ड धार
चहूँ ओर नार खार ताल झील भरिगे।
झिल्ली झनकार रव दादुर अपार मोर
सोर कुहुकारन उदार छवि करिगे॥
हरी हरी भूमि तापै इन्द्रवधू फैलि रही
उपमा सु ताकी 'रसरास' चित्त धरिगे।
सबुज बनात पर मानो मैन जौहरी की
गाँठ ते उचटि पुंज माणिक बिथरिगे॥ ११०॥

सावन में अखण्ड वर्षा हो रही है, सब जलाशय भर गये हैं, झिल्ली, दादुर और मोरों के शोर से और भी शोभा बढ़ रही है। हरी हरी भूमि पर वीरबहूटी फैली हैं, वे "रसरास" जी को कैसी मालूम पड़ती हैं मानों मदन-जौहरी की गाँठ से छूटकर बहुत से माणिक्य हरी बनात के फर्श पर बिथुर गये हैं।

वाह! क्या कहना है। साहित्य के जौहरी ही इसकी परख कर सकते हैं।

(सध्या-समय तारे निकलते हैं), कोढियों की तरह इसके हाथ (कमल-रूप में) सिकुडे हुए और खराब है। सारा तन सफेद है (शायद चाँदनी रात की सध्या है), सब शरीर गर्म हे (कोढ़ी का शरीर गर्म रहता हे, वियोगिनी को रात भी गर्म है), इसके छूते ही कलेजा जलता है, मुशकिल से सातों सुखों को खोकर अभी अभी गई थी (अति शीघ्र फिर आई, वियोग में दिन का समय कुछ जान न पडा) हे सखी! तू ही बतला कि अब मैं क्या करूँ, इससे कैसे बचूँ, यह तो लाल लाल मुँह किये फिर आ गई (सध्या को 'निशामुख' कहते भी हैं)।

इस छन्द में अनेक खूबियाँ हैं। पाठक सोचें और समझें।

---

(३१) समुद्र।

'केशव' जी समुद्र का कैसा विलक्षण वर्णन करते हैं—

विजया छन्द।

भूति विभूति पियूषहु को विष ईश सरीर कि पाय वियो है।
है किधौं 'केशव' कश्यप को घर देव अदेवन के मन मोहै॥
संत हियो कि वसै हरि सन्तत शोभ अनन्त कहै कवि को है।
चन्दननीर तरंग तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै॥११४

इसमें धन की विभूति (रत्नाकर होने से), अमृत और विष भी है, अत क्या यह समुद्र शकर की दूसरी मूर्त्ति है (शंकर के शरीर में भी विभूति, अमृत और विष है)? या यह कश्यप का घर है जो देव दैत्यों को अच्छा लगता है

(देव और दैत्य कश्यप के पुत्र हैं, वाप का घर पुत्रों को अच्छा लगता ही है, समुद्र को भी देव और दैत्यों ने मिल कर मथा था), या यह किसी संत का हृदय है जहाँ श्रीहरि सदा बसते हैं (नारायण संत के हृदय में और समुद्र में वसते हैं) ? चंदन के नीर से इसकी तरंगें भरी हैं, अत: क्या यह कोई नागर पुरुष है या समुद्र है (नागर लोग भी अपने शरीर में चंदन लगाते हैं और समुद्र में भी चंदन-काष्ठ बहाया जाता था) ?

नोट—मलयगिरि से चंदन काटकर समुद्र में बहाते हुए उड़ीसा और बंगाल की ओर लाया जाता था। इसी व्यापार की ओर 'केशव' का इशारा है।

'तुलसीदास' जी हनूमानजी के मुख से श्रीरामचंद्र के प्रति कहलाते हैं। समुद्र का पानी खारा है इसपर अनोखी सूझ है—

चौपाई ।

तुव प्रताप बड़वानल भारी ।
सोख्यो प्रथम पयोनिधि बारी ॥
तव रिपु नारि रुदन जलधारा ।
भरयो बहोरि भयो तेहि खारा ॥ ११५ ॥

हे प्रभु, आपके प्रताप-रूपी भारी बड़वानल ने समुद्र का पानी सोख लिया। तब तुम्हारे शत्रु रावण की स्त्री बहुत रोई (कि लंका अरक्षित हो गई), वह इतना रोई कि उसके आँसुओं से पुन: समुद्र भर गया, इसीसे वह खारा हो गया (अश्रुजल खारा होता है)।

वाह गुरुजी, अत्युक्ति की तो पराकाष्ठा दिखला दी। अब दूसरा कोई क्या कहेगा ?

समुद्र में सेतु बँध रहा है। जल में पहाड़ फेंके जा रहे हैं। समुद्र-जल उछलता है। इसपर, उछाल की ऊँचाई बताते हुए 'केशव' कहते हैं—

तोटक छन्द।

उछलै जल उच्च अकाश चढ़ै।
जल जोर दिशा विदिशान मढ़ै॥
जनु सिंधु अकाश नदी अरि कै।
बहु भाँति मनावत पाँ परि कै॥ ११६॥

समुद्र-जल आकाश तक उछलता है और सब दिशाओं को आच्छादित सा करता है। (समुद्र नदीपति कहलाता है। आकाशगंगा भी एक नदी है) मानो आकाशगंगा ने अपने पति समुद्र से मान किया है, इसी कारण समुद्र हठ-पूर्वक हाथ बढा बढाकर आकाशगंगा के पैर पकड़ पकड़कर उसे मनाता है। वाह रे मान और धन्य रे मनाना !

इसीको कहते हैं जमीन आसमान के कुलाबे मिलाना।

समुद्र पर 'केशव' की एक और उक्ति पढ़िये—

गीतिका छन्द।

जलजाल काल कराल माल तिमिंगिलादिक सों बसै।
उर लोभ छोभ विमोह कोह सकाम ज्यों खल को लसै॥
बहु संपदायुत जानिये अति पातकी सम लेखिये।
कोउ माँगनो अरु पाहुनो नहिं नीर पीवत देखिये॥ ११७॥

यह जल-जाल (समुद्र) काल-सम कराल है, तिमिंगिलादि (व्हेल) बड़े बड़े मच्छ इसमें बसते हैं, जैसे खलों के हृदय में भयकर लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि बसते हैं। बहुत सपत्ति-युक्त (रत्नाकर होने से) होने पर भी महापातकी के समान है, क्योंकि न कोई अतिथि और न कोई भिक्षक ही उसका पानी पीता है। कैसी सुन्दर युक्ति है !

, समुद्र पर 'रहीम' कवि की उक्ति सुनिये—

दोहा।

धनि रहीम जल पक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥ ११८ ॥

रहीम कहते हैं कि कीचड ही का थोडा जल अच्छा जिसे छोटे जीव पेट भर पीते तो हैं, समुद्र के अगाध जल की कौन बडाई जिसके किनारे से ससार के सब जीव प्यासे ही लौट जाते हैं। कैसी सरल और सुन्दर उक्ति है !

'दास' जी समुद्र के बहाने गुण-आगर प्राणी की परिभाषा कहते हैं—

सवैया ।

थाह न पैये गँभीर बड़ो है सदाही रहै परिपूरण पानी।
ताकै बिलोकि कै श्रीयुत 'दास' जू
होत उमाहित मैं अनुमानी ॥
आदि बड़ी मरजाद लिये रहै
है जिनकी महिमा जग जानी ।

काहू के केहूँ घटाये घटै नहिं
साागर औ गुण-आगर प्रानी ॥ ११९ ॥

काव्य का एक उद्देश्य यह भी है कि मनोरञ्जक भाषा और उत्तम कल्पना द्वारा शुभाचरण की प्रभावजनक शिक्षा दी जाय। 'दास' जी गुण-आगर प्राणी बनने की शिक्षा इस प्रकार देते हैं कि मनुष्य को समुद्रवत् होना चाहिये। बहुत गभीर कि कोई थाह न पावे, सदा पानी (आबरू) से परिपूर्ण रहे। राका (पूर्णिमा और रंक) को देखकर उसे श्रीयुत (धनी) करने की उमग रक्खे। अपनी आदि मर्यादा (प्रतिष्ठा और सीमा) से बाहर न हो। इस प्रकार जो गुण-आगर प्राणी समुद्रवत् रहता है वह किसी प्रकार किसीके घटाने से नहीं घट सकता।

(३२) सरोवर।

गोस्वामी तुलसीदास-कृत यह सरोवर-वर्णन हमें बहुत अच्छा जँचा है—

चौपाई।

पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा। पपा नाम सुभग गभीरा।
संत-हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥१२०
जहँ तहँ पियहिं विविधि मृग नीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥ १२१ ॥

दोहा।

पुरइन सघन ओट जल, वेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥ १२२ ॥

सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मशीलन्ह के, दिन सुखसंजुत जाहिं ॥ १२३ ॥

चौपाई।

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रशंसा।
॥ १२४ ॥

चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरणि नहिं जाई॥
सुन्दर खग गन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई
॥ १२५ ॥

ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये।
चहुँ दिशि कानन बिटप सुहाये॥
चम्पक बकुल कदम्ब तमाला।
पाटल पनस पलास रसाला॥

नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चञ्चरीक पटलीकर गाना॥
शीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ। सन्तत बहै मनोहर बाऊ॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥

दोहा।

फलभर नम्र बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
परउपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसम्पति पाइ ॥ १२६ ॥

भावार्थ सरल ही है। कैसा सुन्दर अनुभव और उपदेश है।

(३३) सूर्योदय ।

"केशव" जी उषःकाल की लालिमा पर कहते हैं—

सवैया ।

दिसि पूरी प्रभा करि कै दसहू गन कोकन के अति मोद लहे।
रँगि राखी रसा रँग कुंकुम के अलि गुंजत ते जसपुंज कहे॥
निसि एक ह्वै पंकज की पतिनीन को याके हिये अनुराग रहे।
मानो याहीते सूरज प्रात समै नित आवतहै अरुनाई गहे॥१२७

दसो दिशाओं को प्रभापूर्ण करते हुए, चकवाकों को मुदित करते हुए, सारी पृथ्वी को कुंकुम के रंग में रंगते हुए, और भौंरों से अपनी प्रशंसा सी कराते हुए सूर्य लाल लाल रूप लिये आता है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि सूर्य के हृदय में दो एक कमलिनियों का विषद अनुराग भरा ही रह जाता है, इसीसे उसी अनुराग से रँगा हुआ सूर्य लाल लाल निकलता है। (मतलब यह, सूर्य की लालिमा का कारण कमलिनियों का अनुराग है)।

अरुण सूर्य पर 'केशव' पुनः कहते हैं—

छप्पय ।

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राणनाथ भय।
मानहु 'केशवदास' कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट॥

कै सोनित कलित कपाल यह, किल कापालिक काल को ।
यह ललित लाल कैधों लसत, दिगभामिनि के भाल को॥१२८॥

सूर्य प्रात काल अत्यन्त लाल होते हैं मानो कमलों और चक्रवाकों के अनुराग से ही ऐसे रंजित रहते हैं, या सिंदूर से रँगा हुआ कोई मङ्गलघट है, या इन्द्र का छत्र है जो माणिक्य की प्रभा से रंजित है, या काल-कापालिक के हाथ में सद्य काटा हुआ और रक्त-रंजित किसी बलि-पशु का सिर है, या पूर्व-दिशा-रूपी स्त्री के भाल का माणिक्य-जटित बंदा है।

पुन 'केशव' की अनूठी उक्ति सुनिये—

दोहा ।

चढ्यो गगन तरु धाय दिनकर बानर अरुण मुख ।
कीन्हो झुकि झहराय सकल तारका कुसुम बिन ॥ १२९ ॥

(यह अरुण सूर्य नहीं वरन) यह सूर्य मानो एक ललमुहाँ वन्दर है जो आकाश-रूपी पेड पर चढ गया है और क्रुद्ध होकर उसे झकझोर दिया है जिसमें तारा-गण-रूपी उसके सब फूल झड गये हैं।

यह उष काल की लालिमा नहीं, वरन—

व्योम में यह देखिये अति लाल श्री सुख साजही ।
सिंधु में बड़वाग्नि की जनु ज्वाल माल विराजही ॥
पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सोभई ।
सूर वाजिन की खुरी अति तिक्षता तिनकी हुई ॥ १३० ॥

आसमान में जो यह सुखप्रद अरुणश्री दिखाई

देती है वह ऐसी जान पड़ती है मानो समुद्र में बड़वानल की ज्वालाओं की प्रभा है (क्योंकि आसमान और समुद्र का एकसा रंग है), या सूर्य के घोड़ों के तीक्ष्ण खुरों से चूर्ण होकर माणिक्य की धूल से सारा आसमान भर गया है।

ऋतु-घाट।

ऋतुओ में जो मन मोहने की शक्ति न होती।
कवि 'दीन' की इनपर इतनी भक्ति न होती॥

—भगवानदीन।

१—वसन्त ।

वसंत का रूप देखिये—

कवित्त ।

गौन हद हीन लागे सुखद सुभौन लागे
पौन लागे बिपद वियोगिन के जियरान ।
सुन्दर सवादिल सुभोजन लगन लागे
अगन मनोज लागे जोगिन के हियरान ॥
कहत 'गुलाब' बन फूलन पलास लागे
सकल विलासन के समय सु-नियरान ।
दिन अधिकान लागे रितुपति आन लागे
तपन सुभान लागे पान लागे पियरान ॥ १ ॥

कूकि उठीं कोकिला सुगूँजि उठी भौर भीर
डोलि उठे सौरभ समीर सरसावने ।
फूलि उठीं लतिकाहू नौंगन की लोनी लोनी
झूमि उठीं डालियाँ कदम्ब सरसावने ॥
चहकि चकोर उठे कीर करि सोर उठे
टेरि उठीं सारिका बिनोद उपजावने ।
चटकि गुलाब उठे लटकि सरोज पुञ्ज
खटकि मराल ऋतुराज सुनि आवने ॥ २ ॥

सवैया।

वायु बहारि बहारि रहे छिति बीथी सुगंधन जाती सिंचाई।
त्यों मधुमाते मलिन्द सबै जय के करखान रहे कछु गाई॥
मंगलपाठ पढ़ै 'द्विजदेव' सबै विधि सो सुषमा उपजाई।
साजि रहे सब साज घने बनमे ऋतुराज की जानि अवाई॥३॥

पुनश्च—

कवित्त।

फूलैगे अनार कचनार महसुत आम
फूलैगे सिरिस औ पनस-पुञ्ज झूलैगो।
फूलैगी सुपाड़री औ मालती अमिलतास
केसर पलास फूलि आगिरूप तूलैगो॥
फूलैगी दमेर माधवी चमेली 'रघुनाथ'
फूलैगे गुलाब जिन्हैं देखि चित भूलैगो।
बिरह को बिरवा लगायो तैन कंत सखी!
माधव बसंत, कहौ वहौ अब फूलैगो॥४॥

कूलन कछारन मे तथा केलि कुंजन मे
क्यारिन मे कलित कलीन किलकत है।
[illegible] 'पदमाकर' परागन हू मे पौन हू मे
पानन मैं पीकन पलासन पगत है॥
द्वार में दिसान मे दुनी में देस देसन मे
देखो दीप दीपन में दीपति दिपत है।
विपिन में ब्रज में नवेलिन मे बेलिन मे
बनन में बागन मे बगरो बसत है॥५॥

उपर्युक्त पाँच पद्यों में वसन्त का साधारण रूप दिखलाया गया है। विशेष रूप आगे देखिये।

'केशवदास' जी वसन्त को शिव-समाज के रूप में दिखलाते हैं। जो जो वस्तुएँ शिव के समाज में हैं उन्हें वसन्त में भी देखिये—

कवित्त।

सीतल समीर सुभ गंगा के तरंगयुत
अंबर-विहीन वपु बासुकी लसत है।
सेवत मधुपगण गजमुख परभृत
बोल सुनि होत सुखी सत औ असत हैं॥
अमल अदल रूप मंजरी सुपद रज
रंजित असोक दुख देखत नसत है।
जाके राज दिसि दिसि फूले हैं सुमन सब
शिव को समाज कैधौं 'केशव' बसंत है॥ ६॥

वसन्त-पक्ष का अर्थ—

शीतल वायु चलती है, मानो गंगा की तरंगों से युक्त हो। आकाश, काम (विहीन वपु) और पुष्पमालाएँ (बासुकी) शोभा दे रही हैं। भौंरे आम्र-वृक्षों का (गज-मुख = आम की एक जाति विशेष) सेवन करते हैं। कोयल (परभृत) के बोल सुनकर भले-बुरे सब सुखी होते हैं। निर्मल दल-रहित वृक्ष (पलास, सेमर, करील इत्यादि) सुन्दर मंजरी से युक्त हुए हैं। सुन्दर स्त्रियों (रूपमंजरी) के पैरों की रज छूकर अशोक पुष्पों से रंजित हो उठे हैं,

सवैया।

वायु बहारि बहारि रहे छिति वीथी सुगंधन जातीं सिंचाई।
त्यौं मधुमाते मलिन्द सबै जय के करखान रहे कछु गाई॥
मंगलपाठ पढ़ै 'द्विजदेव' सबै विधि सो सुषमा उपजाई।
साजि रहे सब साज घने वनमें ऋतुराज की जानि अवाई॥३॥

पुनश्च—

कवित्त।

फूलैंगे अनार कचनार महुआ आम
फूलैगे सिरिस औ पनस फूल सूलैगो।
फूलैगी सुपाड़ी औ मालती अमिलतास
सेमर पलास फूलि आगिरूप तूलैगो॥
फूलैगी कनेर माधवी चमेली 'रघुनाथ'
फूलैगे गुलाब जिन्हैं देखि चित भूलैगो।
विरह को बिरवा लगायो कौन कंत सखी!
आवत बसंत, कहौ वही अब फूलैगो॥४॥

कूलन [illegible] मे लघा केलि कुञ्जन मे
क्यारिन मे कलित कलीन किलकत है।
[illegible] परागन हू मे पौन हू मे
पानन में पीकन पलासन पगत है॥
द्वार मे दिसान में दुनी मे देस देसन मे
देखो दीप दीपन में दीपति दिपत है।
विपिन में ब्रज मे नवेलिन मे बेलिन मे
बनन में बागन मे बगरो बसत है॥५॥

रही है। पवन ही उस बालक को झुलाती है, शुक, मयूरादि उसे बात कर कर खिलानेवाले हैं, कोयल ही उसे ताली दे देकर हिलरानेवाली और हुलसानेवाली दासी है। पुष्प पराग झड़ता है, वही कज-कली-रूपी कोई स्त्री मानो राई-लोन उतारा करती है। लताएँ उसको साड़ी में लुकाये रखती हैं। सबेरे गुलाब की कलियाँ खिलते समय चटकती हैं वे ही मानो उस मदनराज के बालक (वसन्त) को चुटकी दे देकर प्रात काल जगाती हैं।

बहुत ही सुन्दर रूपक है। गजब की सूझ है!

कुलपति मिश्र जी वसंत को काम और पृथ्वी का विवाह बतलाते हैं। ब्राह्मण ही तो ठहरे, शायद दक्षिणा में इन्हें भी आनन्द का कुछ धन मिल जाय। सूझ देखिये—

कवित्त।

साजियत मौर बँधी भौंरन की भौंर जस
　　गावैं ठौर ठौर हरषित जीव जतु है।
फूलत सुमन वर अधिक अनल आगे
　　कोकिल मधुर सुर पढ़ै वेदमतु है॥
बन घन अम्बर बने हैं बहु भाँतिन सो
　　नरनारी पवरत लगन को ततु है।
पायो राग नयो सब जग बस भयो यह
　　मैन और पुहमी को व्याह कै वसतु है॥८०॥

आमों की मौरें ही मानो मौर बनी हैं और भ्रमर ही यश-गायक हैं। यह विवाह देखकर सब जीव-जन्तु हर्ष मना रहे हैं। लाल फूल फूले हैं, वही विवाहाग्नि (अन

आम की बौरें ही मौर हैं, पलास-पुष्प ही कंकण हैं, अन्य पीले फूल ही अन्य सोने के आभूषण हैं, पराग ही बनरे के पीले वस्त्र हैं, नव पल्लव ही पताका हैं, लाल कमल ही सिंहासन है, अनेक प्रकार की कुर्ने ही पालकी, हाथी और रथ हैं, पवन ही बरात की दौड़ है, वृक्ष ही बराती हैं। भौरों की गुंजार और चातकादि पक्षियों की पुकार ही बाजे हैं। देखने से मालूम हुआ कि मनो-मुग्ध-कारिणी बहार (वसन्त के सुन्दर और सुखद दृश्य) भी बनरी (दुलहिन) बनकर उसके साथ ही है। अतः प्रमाणित हुआ कि सुहावना वसन्त बनरा बनकर आया है।

'देव' जी का विलक्षण अनुमान मनन करने योग्य है। आप वसन्त को काम महाराज का बालक प्रमाणित करते हैं। उक्ति बहुत ही अनूठी है—

कवित्त।

डार द्रुम पालनो बिछौना नव पल्लव के
सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावे कीर केकी बतरावे 'देव'
कोकिल हलावे हुलसावे कर तारी दै॥
भरत पराग सों उतारो करै राई नोन
कंजकली नायका लतानि सिर सारी दै॥
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥ ९॥

वृक्षों की शाखें ही पालना है, नवीन पल्लव ही कोमल बिछौना है, फूलों की झँगुली तन की शोभा बढ़ा

वसन्त में वियोगियों को प्राणान्तक कष्ट होता है।

वसन्त में शाही सामान देखिये—

कवित्त ।

बोलि कै मलिंद वृंद करखा सुनावैं सोर
दुंदुभी धुकार बोलैं कोकिला अगाह के।
बंदीजन बिरद पपीहा बोलै बार बार
खोलैं खुसबोई तरु सुमन अँबाह के॥
चटकैं गुलाब चहुँ ओर ते चटाचट कै
मानो जग जीत बाढ दागत सिपाह के।
परी है पुकार बिरहीनन के द्वार द्वार
डेरा परे बागन बसंत बादसाह के॥ १२॥

भँवरों की गुंजार ही कड़खा है, कोयल की कुहक ही नगारों का शोर है, पपीहा बंदीजन का काम करता है, आंब के वृक्ष तथा अनेक अन्य पुष्प-वृन्द खुशबू के खजाने खोल रहे हैं, गुलाब की कलियाँ चटकती हैं वे ही मानो विजयी योद्धा बंदूकें दाग रहे हैं। विरहियों के द्वार द्वार पुकार पड़ी है कि अब बचना कठिन है, क्योंकि बागों में वसन्त-बादशाह के डेरे आ पड़े हैं।

एक कवि महोदय वसन्त को मदन-महीप का मुसद्दी (हेडक्लर्क, मीरमुंशी) मुकर्रर करते हैं—

कवित्त ।

बैठो बन बीथिन बनाय दरबार नव
पल्लव गिलिम और गुलाबन की गद्दी है।

के नीचे होम करने की) हैं। कोयल विवाह-मंत्र पढती है। वन नवीन-पल्लव-युक्त हुए हैं, वही मानो सब लोगों ने नवीन वस्त्र पहने हैं। वसन्त में नर-नारी अपने अपने प्रेमपन में रत है, यही मानो लग्न का सयोग है। नवीन राज्य पाकर और समस्त ससार को वश करके यह कामदेव पृथ्वी के साथ विवाह कर रहा है कि यह वसन्त की ऋतु है ?

राज्य मिलने पर राजा को एक विवाह करना होता था। यह प्राचीन नियम है। इसी सिद्धान्त का अनुभव कुलपतिजी ने वर्णित किया। इसमें काव्य के सभी उद्देश्य कुलपतिजी ने पूर्ण रीति से दर्शाये हैं।

वसन्त में फकीर का सामान देखिये—

सवैया।

आम के मौर धरे तुररा रत किंशुक की अलफीन सुहायो
धूम परागन की कफनी नव वेलिन सेलिन सो छवि छायो ॥
कज सखा कर किस्त लिये अरु कोकिल कूक अवाज सुनायो।
प्रान की भीख वियोगिन पै ऋतुराज फकीर ह्वै माँगन आयो
॥ ११॥

आम के मोर ही तुर्रा हैं, राते पलास-पुष्प ही भगवाँ अलफी है, पराग ही धूम्र रग की कफनी है, नव-बेलियाँ ही सेली हैं। सूर्य (कज-सखा) की किश्ती (भिक्षा लेने का पात्र) हाथ में लिये हुए हैं, कोकिल की कूक ही उसकी आवाज है। इस प्रकार यह वसन्त फकीर बनकर वियोगियों के पास, प्राणों की भिक्षा लेने के लिये, आया है।

वसन्त में वियोगियों को प्राणान्तक कष्ट होता है।

वसन्त में शाही सामान देखिये—

कवित्त।

बोलि कै मलिंद वृंद करखा सुनावैं सोर
　　दुंदुभी धुकार बोलैं कोकिला अगाह के।
बंदीजन बिरद पपीहा बोलैं बार बार
　　खोलैं खुसबोई तरु सुमन प्रवाह के॥
चटकैं गुलाब चहुँ ओर ते चटाचट कै
　　मानो जग जीत बाढ़ दागत सिपाह के।
परी है पुकार बिरहीनन के द्वार द्वार
　　डेरा परे बागन बसंत बादसाह के॥ १२॥

भौंरों की गुंजार ही कड़खा है, कोयल की कुहक ही नगारों का शोर है, पपीहा बंदीजन का काम करता है, आम के वृक्ष तथा अनेक अन्य पुष्प-वृक्ष खुशबू के खजाने खोल रहे हैं, गुलाब की कलियाँ चटकती हैं वे ही मानो विजयी योद्धा बंदूकें दाग रहे हैं। विरहियों के द्वार द्वार पुकार पड़ी है कि अब बचना कठिन है, क्योंकि बागों में वसन्त-बादशाह के डेरे आ पड़े हैं।

एक कवि महोदय वसन्त को मदन-महीप का मुसद्दी (हेडक्लर्क, मीरमुंशी) मुकर्रर करते हैं—

कवित्त।

बैठो बन वीथिन बनाय दरबार नव
　　पल्लव गिलिम और गुलाबन की गद्दी है।

के नीचे होम करने की) है। कोयल विवाह-मंत्र पढ़ती है। वन नवीन-पल्लव-युक्त हुए हैं, वही मानो सब लोगों ने नवीन वस्त्र पहने हैं। वसन्त में नर-नारी अपने अपने प्रेमपन में रत है, वही मानो लग्न का संयोग है। नवीन राज्य पाकर और समस्त संसार को वश करके यह कामदेव पृथ्वी के साथ विवाह कर रहा है कि यह वसन्त की ऋतु है ?

राज्य मिलने पर राजा को एक विवाह करना होता था। यह प्राचीन नियम है। इसी सिद्धान्त का अनुभव कुलपतिजी ने वर्णित किया। इसमें काव्य के सभी उद्देश्य कुलपतिजी ने पूर्ण रीति से दर्शाये हैं।

वसन्त में फकीर का सामान देखिये—

सवैया।

आम के मौर धरे तुररा रत किंशुक की अलफीन सुहायो
धूम परागन की कफनी नव वेलिन सेलिन सो छवि छायो ॥
कज सखा कर किस्त लिये अरु कोकिल कूक अवाज सुनायो।
प्रान की भीख वियोगिन पै ऋतुराज फकीर ह्वै माँगन आयो
॥ ११॥

आम के मौर ही तुर्रा है, राते पलास-पुष्प ही भगवाँ अलफी है, पराग ही धूम्र रंग की कफनी है, नव-बेलियाँ ही सेली हैं। सूर्य (कज-सखा) की किश्ती (भिक्षा लेने का पात्र) हाथ में लिये हुए है, कोकिल की कूक ही उसकी आवाज है। इस प्रकार यह वसन्त फकीर बनकर वियोगियों के पास, प्राणों की भिक्षा लेने के लिये, आया है।

वसन्त में वियोगियों को प्राणान्तक कष्ट होता है।

वसन्त में शाही सामान देखिये—

कवित्त।

बोलि कै मलिंद वृंद करखा सुनावैं सोर
दुंदुभी धुकार बोलै कोकिला अगाह के।
बंदीजन विरद पपीहा बोलैं बार बार
खोलै खुसबोई तरु सुमन अँबाह के॥
चटकै गुलाब चहुँ ओर ते चटाचट कै
मानो जग जीत बाढ दागत सिपाह के।
परी है पुकार बिरहीनन के द्वार द्वार
डेरा परे बागन बसत बादसाह के॥ १२॥

भँवरों की गुंजार ही कड़खा है, कोयल की कुहक ही नगारों का शोर है, पपीहा बंदीजन का काम करता है, आँब के वृक्ष तथा अनेक अन्य पुष्प-वृक्ष खुशबू के खजाने खोल रहे ह, गुलाब की कलियाँ चटकती हैं वे ही मानो विजयी योद्धा बंदूकें दाग रहे हैं। विरहियों के द्वार द्वार पुकार पड़ी है कि अब बचना कठिन है, क्योंकि बागों में वसन्त-बादशाह के डेरे आ पड़े हैं।

एक कवि महोदय वसन्त को मदन-महीप का मुसद्दी (हेडक्लर्क, मीरमुंशी) मुकर्रर करते हैं—

कवित्त।

बैठो बन बीथिन बनाय दरबार नव
पल्लव गिलिम और गुलाबन की गद्दी है।

के नीचे होम करने की) है। कोयल विवाह-मन्त्र पढ़ती हैं। वन नवीन-पल्लव-युक्त हुए हैं, वही मानो सब लोगों ने नवीन वस्त्र पहने हैं। वसन्त में नर-नारी अपने अपने प्रेमपन में रत है, वही मानो लग्न का संयोग है। नवीन राज्य पाकर और समस्त संसार को वश करके यह कामदेव पृथ्वी के साथ विवाह कर रहा है कि यह वसन्त की ऋतु है?

राज्य मिलने पर राजा को एक विवाह करना होता था। यह प्राचीन नियम है। इसी सिद्धान्त का अनुभव कुलपतिजी ने वर्णित किया। इसमें काव्य के सभी उद्देश्य कुलपतिजी ने पूर्ण रीति से दर्शाये हैं।

वसन्त में फकीर का सामान देखिये—

सवैया।

आम के मौर धरे तुररा रत किंशुक की अलफीन सुहायो
धूम परागन की कफनी नव वेलिन सेलिन सों छवि छायो ॥
कंज सखा कर किश्त लिये अरु कोकिल कूक अवाज सुनायो।
मान की भीख वियोगिन पै ऋतुराज फकीर ह्वै माँगन आयो ॥ ११॥

आम के मौर ही तुर्रा हैं, राते पलास-पुष्प की भगवाँ अलफी है, पराग ही धूम्र रंग की कफनी है, नव-बेलियाँ ही सेली हैं। सूर्य (कंज-सखा) की किश्ती (भिक्षा लेने का पात्र) हाथ में लिये हुए है, कोकिल की कूक ही उसकी आवाज़ है। इस प्रकार यह वसन्त फकीर बनकर वियोगियों के पास, प्राणों की भिक्षा लेने के लिये, आया है।

अतन अलूस और रतन रसाल रंग
अतन अनद हेत जौहरी बसत भो ॥१४॥

बसन्त मदन महाराज के लिये जौहरी बन बैठा है।
व उसके सामान देखिये—

सेवती और निवारी के पुष्प हीरे हैं, अनेक प्रकार
ी जूही के फूल मोती हैं, अनार-पुष्प मूँगे हैं, नवपल्लव ही
पन्ना हैं, चपा ही पुखराज हैं, गुलाब-पुष्प माणिक हैं, नील
कमल ही नीलम हैं, माधवी गोमेद है, लहसुन (लसून)
लहसुनिया है। वाटिका ही पूरा बाजार है। यत्नपूर्वक
ऐसा सामान सजाकर निहायत सुन्दर रंग के जवाहिरात
ईश्वर मदन-महीप को खुश करने के लिये (नजराना देने
के लिये) वसन्त जोहरी बनकर आया है।

कैसी अनमोल सूझ है! साहित्य-रत्न पारखी
ही देखें।

अब 'देव' जी की अनोखी सूझ देखिये—

कवित्त।

नीरा पट तन पर घन सो घुमाय राखी
दतन की चमक छटा सी बितरति हौं।
हीरन की किरनै जगाय राखौ जुगनू सी
कोकिला पपीहा पिकबानी भरति हौं॥
बीच अँसुवान की लगाय कवि 'देव' कहै
बालम बिदेस को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र को सो धनु साजि बेसरि कसत आजु
रहु रे बसन्त तोहिं पावस करति हौं॥१५॥

कीन्हें कीर कोकिल नवीनन वसिन्दा पाते
झारि दै मिसिल दफ़्दर सब रद्दी है ॥
बिरह पुरा पै निज अमल लिखाय लायो
हरे हरे चातुरी सों चाँपत चौहद्दी है।
कीन्हे सल्तनत निज संत औ असन्तन पै
काम छितिकंत को बसन्त मुतसद्दी है ॥१३॥

यह वसन्त मदन महाराज का मीरमुंशी है। वन-वीथिकाओं में इसने अपना आफिस जमाया है। नव पल्लवों का कालीन और गुलाबों का गावतकिया बनाया है, कीर और कोकिल ही नवीन प्रजा है, पुराने पत्ते गिरा दिये हैं मानो दफ़्तर की पुरानी मिसलें रद्दी समझकर तलफ़ कर दी गई। विरह-ग्राम पर अपनी हुकूमत का परवाना लिखा लाया है (यहीं अपना अमल जमायेगा), धीरे धीरे चतुराई से चौहद्दी दबाता जाता है और अपनी सल्तनत सब भले-बुरे लोगों पर जमा ली है।

'औध' कवि वसन्त को जौहरी के रूप में देखते हैं। उसके डब्बे के जवाहरात देखिये—

कवित्त।

सेवती निवारी सेत हीरन के हार जुही
जूथी औ अनार मोती विद्रुम लसत भो।
पन्ना पुखराज पत्र चंपक मगोज पाँजे
मानिक गुलाब नील इन्दीवर गत भो ॥
माधवी मजूनी गज मेदक लसूनो दूनो,
'औध' वाटिका बजार पूनो विलसत भो।

जतन जलूस और रतन रसाल रंग
 जतन अनंद हेत जौहरी वसंत भो ॥१४॥

वसन्त मदन महाराज के लिये जौहरी बन बैठा है। अब उसके सामान देखिये—

सेवती और निवारी के पुष्प हीरे हैं, अनेक प्रकार की जूही के फूल मोती हैं, अनार-पुष्प मूँगे हैं, नवपल्लव ही पन्ना है, चंपा ही पुखराज है, गुलाब-पुष्प माणिक हैं, नील कमल ही नीलम हैं, माधवी गोमेद है, लहसुन (लसून) लहसुनिया है। वाटिका ही पूरा बाजार है। यत्नपूर्वक ऐसा सामान सजाकर निहायत सुन्दर रंग के जवाहिरात लेकर मदन-महीप को खुश करने के लिये (नजराना देने के लिये) वसन्त जौहरी बनकर आया है।

कैसी अनमोल सूझ है! साहित्य-रत्न पारखी ही देखें।

अब 'देव' जी की अनोखी सूझ देखिये—

कवित्त।

नील पट तन पर घन सो घुमाय राखौं
 दंतन की चमक छटा सी बितरति हौं।
हीरन की किरनैं लगाय राखौं जुगुनू सी
 कोकिला पपीहा पिउबानी भरति हौं॥
कीच अँसुवान को मचाय कवि 'देव' कहै
 बालम बिदेस को पधारिबो हरति हौं।
इन्द्र को सो धनु साजि बेसरि कसत आजु
 रहु रे वसन्त तोहिं पावस करति हौं॥१५॥

किसी नायिका का पति वसन्त में विदेश जा रहा है। तब वह खीझकर कहती है—

ऐ वसन्त! देख, मैं तुझे पावस बना देती हूँ। तब मेरे प्रियतम कैसे जायँगे। नीली साड़ी पहनकर घनघोर घटा छा दूँगी, दाँतों की चमक से बिजली चमका दूँगी, आभूषणों के नगों से जुगनू सी जगमगा दूँगी, अपने कोकिल कंठ से पी कहाँ २ रटकर पपीहा का काम करूँगी। आँसुओं से जमीन पर कीचड मचा दूँगी, बेसर से इन्द्रधनुष की छटा दर्शा दूँगी, फिर देखूँ तो कि प्रियतम कैसे विदेश जाते हैं।

बड़ी ही विलक्षण उक्ति है! देव का कमाल देखते ही बनता है।

'प्रहलाद' कवि वसन्त को एक सेना के रूप में देखते हैं—

कवित्त।

सूर सहकार सीस बौरन के तुर्रा धरे
भौंरन की गुंज तूर बाजी रतिनाह की।
परभृत बंदीजन बेहद विरद बोलै
भ्रम्भा पौन ढाढ़ी लखि बाढ़ी पीर दाह की॥
कहै 'प्रहलाद कवि' किंशुक त्रिशूल फूल
शूल उपजावें कहाँ गति है निबाह की।
विरही बचैगे कैसे चाह करि अंत हेत
चढ़ी फौज प्रबल बसंत बादशाह की॥ १६॥

बौरों के तुर्रा धारण किये हुए आम्र वृक्ष (सह-

कार) ही शूरवीर है, भौंरों की गुंजार ही कामदेव की तुरही (विगुल) है, कोयल बन्दीजन हैं, झकोरे देनेवाली पवन ही ढाढी है जिससे दाह होता है। पलास-पुष्प ही त्रिशूल है, अन्य पुष्प पीडा-दायक है। अब निर्वाह की गति नहीं, अब विरही जन कैसे बचेंगे, मारने की इच्छा से वसन्त-बादशाह की फौज ने चढाई कर दी है।

'आलम' कवि वसन्त को काम का करोरी (तह-सीलदार) बनाते हैं। करोरी के कर्त्तव्य और सामान का अच्छा वर्णन है—

कवित्त।

फूल फुरमान छाप छ-पद दोहाई बास
　　नूतन सुसाज टेसू तबू दै परोरी है।
कीर कारकुनै पिकबानी चीठी आई जमा
　　विरह बढाई छबि रैयत मरोरी है॥
सीतल बयार बादि माँगि रूप लीन्हो है री
　　उपज हमारे हरिध्यान जो धरो री है।
आयो है बसत ब्रज लायो है लिसाय आली
　　जोन्हि कै जलेवदार काम को करोरी है॥१७॥

पुष्प-रूपी शाही फर्मान लेकर जिसपर भँवर रूपी मोहर लगी हुई है, सुगन्ध-रूपी दोहाई फेरते हुए नवीन साज-सामान ने टेसू के वृक्षों को तबू सा तनाकर आ पडा है। शुक-समूह कार्यकर्त्ता हैं, कोयल की बोली ही उसकी चिट्ठी है। उसने विरह-रूपी जमा बढाकर छवि-प्रजा को मरोड डाला है (दुःख दिया है)। हमने जो कृष्ण का ध्यान किया है वही हमारी फसल की उपज है, उसीको शीतल

वायु द्वारा नापकर (अंदाज करके) हमारा हक बाद देकर (निकालकर) हमारा रूप-रूपी रुपया वसूल कर लिया है। यह वसन्त काम का करोरी है जो व्रज पर अपना अमल लिखा लाया है और चाँदनी को अपना मुसाहब बना लाया है।

एक कवि महाशय राधिका के रूप में ही वसन्त देख रहे हैं। आप कहते हैं कि राधिका प्यारी वसन्त बन कर कृष्ण से वसन्त खेलने आई है। सामान देखिये—

कवित्त।

नैंन अरविंद मकरंद रस भरे सोहैं
भूषण बिबिध फूल वन छबि छाई है।
कोकिल बचन बर अधर सुपल्लव से
कुंदकली दंत दुति दीपति सुहाई है॥
चपक सुमन गात सौरभ हँसनि वात
मौज भौंर भीर संग सखी समुदाई है।
प्यारे ब्रजराजजू सों उमंगि अनंग प्यारी
खेलन बसंत को बसंत बनि आई है॥१८॥

उसके नेत्र ही कमल हैं जिनमें प्रेमरूपी मकरन्द भरा है, विविध भूषण ही विविध फूल हैं, उसकी छवि ही वन है, उसके वचन ही कोकिल हैं, अधर ही नवपल्लव हैं, दंत ही कुंद-कली हैं, उसके तन की द्युति ही वसन्त की द्युति है, उसका अङ्ग-अङ्ग ही चंपा-पुष्प है, उसका हास्य ही सौरभ है, उसकी मौज (उमङ्ग) ही वसन्ती वायु है उसकी सखियाँ ही भौंर-भीर हैं। काम की उमङ्ग से वसन्त बनकर प्यारे व्रजराजजी से वसन्त खेलने को आई है।

'मोहन' कवि वसन्त को बादशाह मानते हैं। सामान देखिये—

कवित्त।

मद मतवारे भारे भौंर गज गुंजरत
गुनि जन देखि गीत गावत उमाह के।
कोकिल नकीब बोलि करत कलोल आगे
पौन हरकारे आली छूटे चित चाह के॥
'मोहन' सुकवि जीति सिसिर तगीर कीन्हें
बसि करि लीन्हें देस रहे ना निबाह के।
ऐसो जिय जानि मानि कछु ना गुमान आली
डेरा परे बागन बसंत बादसाह के॥१८॥

मद-मस्त भौंरों का समूह गुंजार के मिस गुणीजन की तरह, आनन्द के गीत गाता है, कोयल नकीब की भाँति बोलती है, पवन ही हरकारा (आज्ञा-पत्र-वाहक) है, शिशिर ऋतु को जीतकर राज्य में परिवर्तन कर दिया गया, सब देशों को अपने वश में कर लिया है, मानिनी नायिकाओं के रहने के लिये अब कोई देश नहीं रह गया। हर एक बाग में वसन्त-बादशाह के डेरे पड़े हैं।

'गिरधारी' कवि की कृपा से वसन्त को बाजीगर के रूप में देखिये—

कवित्त।

माते मकरंद के मलिंदगण गुंजरत
मंद मंद सोई मंत्र मोहन सुनायो है।

कहै 'गिरधारी' खुली खोपरी कपोतन की
तोमरी की तान कोकिलान सुर गायो है ॥
गोली सी निकसि रही कलियाँ गुलाबन की
नये नये आमन की जात उपजायो है।
राज व्रजराजजू को राजी करिवे को आज
बाजीगर व्रज मे बसत बनि आयो है ॥२०॥

भौंरों की गुञ्जार नजरबंदी का मन्त्र-पाठ है, श्वेत कपोत ही मसानी खोपडी है (बाजीगरों के पास एक मृत जीव की खोपडी रहा करती है जिसे वे लोग मसान कहा करते हैं), कोयल की कूक महुवर का सुर है, गुलाब की कलियाँ उसकी गोलियाँ हैं, आमों को नवीन पल्लव देकर मानो उसने जादू से नये आम-वृक्ष पैदा किये हैं। कृष्ण को तमाशा दिखलाकर राजी करने के लिये, यह वसन्त मानो बाजीगर बन आया है।

पाठको! कवियों के अनुभव और उनकी दृष्टि का अन्दाजा लगाते जाइयेगा।

अब 'शिव' कवि की करामात देखिये—

कवित्त।

बिकसी बसलिका सुगध भरी 'शिव कवि'
और ढंग भये बन कुज की थलीन के।
कोकिल के कलकल कल नहिँ देत पल
चारोओर सोर सखि सुनिये अलीन के॥
ऐसे समय मान प्राणपति सो न कीजिये री
मेटिबे को मान मानिनी की अवलीन के।

देखो रतिराज काज ऋतुराज कारीगर
गुरज बनाये हैं गुलाब की कलीन के ॥२१॥

किसी मानिनी को मनाते हुए दूती कहती है कि अब सँभल जाओ। कामदेव के लिये वसन्त ने एक नवीन प्रकार का गुर्ज बनाया है। इसीसे वह मानिनी नायिकाओं को मारेगा। गुलाब कली और गदा का एक आकार होने के कारण अनोखी समता है, अनूठी सूझ है।

'बीर' कवि वसन्त को काम का वजीर बनाते हैं। राजाओं के वजीर बड़े अत्याचारी और शान-पसन्द होते हैं—

कवित्त।

अबन की बौरन की ओपी सिर टोपी धरे
कुरता पलासन को ललित सुहायो है।
तरल तमालन की किरचैं तुपक तीर
रजक पराग सो अधिक छबि छायो है॥
गोली से भँवर भीर बोली भाँति भाँतिन की
फूली कलियान में सु रौल हौं जमायो है।
'बीर' बिरहीन के करेजे रेजे करिबे को
आजु तो बसंत या वजीर बनि आयो है॥२२॥

आम्र-मञ्जरी ही चमकीली टोपी है, पलास-पुष्प का कुरता पहने है, तमाल वृक्ष की, चचल डालियाँ ही तल-वार, बन्दूक और तीर हैं, पुष्प-पराग ही रजक (बारूद) हैं (ऐसे हथियारों से सज्जित है), भँवर ही उसकी बन्दूक की गोली है, फूली कलियों पर तो उसने अपना अधिकार (रावल) ही जमा लिया है। 'बीर' कवि का वचन है कि

विरही जनों को सताने के लिये यह वसन्त वजीर बनकर आया है।

धीर कवि का अनुभव है कि वजीर अत्याचारी होते हैं।

'वनमाली' कवि की सूझ का मजा लीजिये —

कवित्त ।

ललित कमंडल कमल-कलिका के करि
किंसुक-कुसुम वर अंबर सोहायो है।
ठौर ठौर भौरन की श्रेणी जपमाल मौर
सजे हैं रसाल जटाजूट सो बढायो है॥
शिष्यन के गीत कीर कोकिल कपोत संग
पढ़ें कै उमग चहूँ ओर सोर छायो है।
कंत 'बनमाली' को पठायो लाली सो लसत
आली री बसल धनि संत बनि आयो है॥२३॥

व्रज की एक विरहिनी कहती है कि यह वसन्त कृष्ण का भेजा हुआ एक योगी है जो हमें योग सिखाने आया है।

कमल-कली का कमण्डलु लिये, पलास-पुष्प का भगवाँ वस्त्र पहने, भौंर-माल की जपमाला लिये, आम्र-मञ्जरी का जटा-जूट बनाये हुए है। शुक, कोकिलादि शिष्य-गण हैं जो साथ साथ विद्याध्ययन करते चलते हैं। यह कृष्ण का भेजा हुआ भगवाँ-वस्त्र-धारी वसन्त कैसा अच्छा योगी बन आया है!

'किशोर' जी की कारीगरी में श्लेषालङ्कार की छटा देखिये। आप वसन्त-वायु का वर्णन यों करते हैं—

सवैया।

सुन्दर सोहै सुगन्धित अंग अभंग अनंग कला ललिता है।
तैसी 'किशोर' सुहात सँजोगिन भोगिनहू को मनोहरता है॥
संग लसी अवली रव राजत अंग रसीली वसीकरता है।
कोमलतायुत बीर वसंत की बैहर की वनिता की लता है
॥ २४ ॥

जिसका शरीर सुगन्ध-युक्त है, जो काम-कला में बहुत ही चतुर है, जो संयोगियों को सुहावनी लगती है, भोगियों का भी मन हरण करती है, जिसके साथ में अलि-अवली का शब्द होता है, बड़े रसीले अङ्गोंवाली, मन को वश करनेवाली और कोमल है—इन गुणों से युक्त यह वसन्त की वायु है, या कोई वनिता है, या लता है? (ऐसे विशेषण रखे गये हैं जो तीनों पर लगते हैं)।

(पवन-पक्ष में 'भोगी' शब्द का अर्थ 'सर्प' लेना होगा)।

यह विलक्षण उक्ति देखिये। कुछ फूल खिल चुके हैं, कुछ खिल रहे हैं, कुछ कली-रूप में हैं। इसीपर उक्ति है—

कवित्त।

कोऊ कहै जाय कान्ह आई है वसंत रितु
कोकिल के बोलिबे को व्रज में बखाने हैं।
हिये सुलगति आगि ऊधो दई फूँकि आय
मरत बन ना जे वे बचन सुजाने हैं॥

याहू पर काम कमनैत ने गही कमान
नेही गोप नैनन के तारका निशाने हैं।
खिले अधखिले अनखिले ये पुहुप नाही
एक बाण मार्यो एक छाँड़ो एक ताने हैं ॥२५॥

कोई कृष्ण से कहो कि वसन्त ऋतु आ गई, कोकिल की वाणी का बखान व्रज में होने लगा। हृदय में जो आग (विरह की) सुलग रही थी उसे उद्धव ने आकर प्रज्वलित कर दिया, परन्तु जो कृष्ण के वचनों का मर्म जानते हैं उनसे मरते नहीं बनता (विरह में प्राण देना वे अच्छा नहीं समझते, वरन विरह-दु:ख झेलना ही अच्छा मानते हैं)। इतने पर काम ने कमान तानी है, प्रेमी गोप-गण के नेत्रों के तारे ही उसके लिये निशाना है। ये फूले, अधखिले और अनखिले (कली) फूल नही है, वरन ये काम के बाण हैं जिनमें से कुछ को वह छोड चुका है, कुछ अभी छोड रहा है और कुछ को केवल कमान पर चढाये हुए है। (वसन्त के पुष्प देखकर व्रजवासियों के नेत्रों को कष्ट होता है)।

पाठक! विचारिये तो, कैसी अनोखी उक्ति है।

अब 'दिनेश' जी की अनुमान-शक्ति का अनुमान कीजिये—

कवित्त।

मजरी मिलित डारैं सदल रसालन की
विकसी अपारै पार पावै को बखानि कै।
गुंजरत भौंर ताहि नीके ताकिबे को जब
ठाढ़ी भई बाल दृग ऊपर को तानि कै॥

कहत 'दिनेस' ताहि समै पाइ पौन भरयो
कुसुम किसोरी के उरोजन पै आनि कै ।
मानो सोधि पूरब को वैर कोपि कामदेव
मारे तीर तीखन महेस अनुमानि कै ॥२६॥

कोई नायिका पुष्पिता आम्र-वाटिका में गई है । भौंरों की गुंजार सुनकर ऊपर को ताकती हुई कुछ तनकर खडी हुई । उसी समय पवन के झकोर से एक आम्र-मजरी उसके कुचों पर आ गिरी । इस घटना पर कवि कहता है कि मानो पूर्व काल के वैर के शोधन-हेतु (वैर चुकाने को) काम ने कुचों को महादेव समझकर तीक्ष्ण वाण मारा है । (आम-मजरी को काम के पचशरों में एक शर माना भी है)

'शभु' कवि की उक्ति देखिये—

सवैया ।

आयो वसत दहत सखी घर आये न कत न पाये सँदेसन ।
'सभु' कहै पथिकाये सबै मरू कोउ विदेसी रहे न विदेसन ॥
चदमुखी दृग ते अँसुवा ढुरि आनि परे कुच याही अँदेसन ।
मानो मयक सरोजन में मुकुताहल लै लै चढावै महेसन ॥२७॥

वसत ऋतु में कोई विरहिनी पति के न आने पर सोचती और रोती है । उसके आँसू कुचों पर गिर रहे हैं । इसपर उत्प्रेक्षा है कि मानो चन्द्रमा कमलों में मोती भर भरकर शकर पर चढा रहा हो ।

मयक—मुखमडल । सरोज—नेत्र । मुकुताहल—आँसू । महेश—कुच ।

रूपकातिशयोक्ति से पुष्ट कैसी अच्छी उत्प्रेक्षा है ! मर्मज्ञ पाठकों की तबीयत तो जरूर फडक जायगी ।

'द्विजदेव' की सूझ देखिये और दाद दीजिये इस सूझ की—

सवैया।

आजु सुभायन ही गई बाग
बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहँ आये गोपाल
तिन्हें लखि औरौ गयो हियरो ठगि॥
पै 'द्विजदेव' न जानि परयौ धौं
कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही सखि लोनो स्वरूप सो
मो अँखियान में लोनी गई लगि॥ २८॥

बसंत की बहार देखने के लिये कोई नायिका बाग में गई है। वहाँ फूलों की बहार देखकर मुग्ध हो रही है। उसी समय वहाँ कृष्ण (नायक) आ गये, उन्हें देखकर वह और भी बेसुध सी हो गई (मोहित हुई)। प्रथम ही प्रत्यक्ष-दर्शन में प्रेमाधिक्य से प्रेमाश्रु आ गये। सखी ने पूछा, यह क्या? तब नायिका भोलेपन से उत्तर देती है कि तू ही तो कहती थी कि कृष्ण का रूप बहुत ही सलोना है, सो मेरे नेत्रों में वही उनकी लोनाई (नमकीनपन) लग गई, अतः आँसू आ गये। इसमें आश्चर्य कैसा?

धन्य द्विजदेव! इस छंद पर जितना ही अधिक विचार करते हैं उतने ही अधिक गुण इसमें प्रगट होते हैं। हाज़िरजवाबी भी लाजवाब ही है।

पलास।

वसन्त के साथ पलास का बड़ा घना संबंध है। कवियों ने इस वृक्ष पर विशेष ध्यान दिया है। इसके फूलों के संबंध की अनूठी उक्तियाँ सुनिये। 'नंदराम' जी कहते हैं—

कवित्त।

जालिम जुलुमदार जाहिर जहान जौन
डगर डगर विष बगर बगारिगो।
कहै 'नँदराम' ब्रज गाँव की गरीबिनिन
रावरे की चेरिन नवेरिन को मारिगो॥
ऊधोजी हवाल कहि दीजौ नंदलालजू सों
गोकुल की गैल गैल गजब गुजारिगो।
फूले ना पलास ये पलास कै बसंत बाज
काढि कै करेजे डार डारन पै डारिगो॥२९॥

जगत्प्रसिद्ध जबरदस्त जालिम रास्ते रास्ते विष फैला गया, ब्रज की वियोगिनी बालाओं को तो उसने मानों मार ही डाला। हे उद्धव! प्रमाण देख लो और कृष्ण से जाकर कह देना। ये पलास नहीं फूले, वरन वसन्त-रूपी 'बाज पक्षी ने वियोगियों का मांस तो खा लिया, पर उनके कलेजे इनकी डालों पर डाल गया है (अर्थात् ये पलास पुष्प नहीं, वरन वियोगिनियों के कलेजे हैं।)

पलाश = (पल = मांस, अश = खाना) मांस खाकर।

'द्विजदेव' की सूझ देखिये और दाद दीजिये इस सूझ की—

सवैया।

आजु सुभायन ही गई बाग
विलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समै तहँ आये गोपाल
तिन्हैं लखि औरौ गयो हियरो ठगि॥
पै 'द्विजदेव' न जानि परयौ धौं
कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही सखि लोनो स्वरूप सो
मो अँखियान में लोनी गई लगि॥ २८॥

वसंत की बहार देखने के लिये कोई नायिका बाग में गई है। वहाँ फूलों की बहार देखकर मुग्ध हो रही है। उसी समय वहाँ कृष्ण (नायक) आ गये, उन्हें देखकर वह और भी बेसुध सी हो गई (मोहित हुई)। प्रथम ही प्रत्यक्ष-दर्शन में प्रेमाधिक्य से प्रेमाश्रु आ गये। सखी ने पूछा, यह क्या? तब नायिका भोलेपन से उत्तर देती है कि तू ही तो कहती थी कि कृष्ण का रूप बहुत ही सलोना है, सो मेरे नेत्रों में वही उनकी लोनाई (नमकीनपन) लग गई, अतः आँसू आ गये। इसमें आश्चर्य कैसा?

धन्य द्विजदेव! इस छंद पर जितना ही अधिक विचार करते हैं उतने ही अधिक गुण इसमें प्रगट होते हैं। हाज़िरजवाबी भी लाजवाब ही है।

पलास।

वसन्त के साथ पलास का बड़ा घना संबंध है। कवियों ने इस वृक्ष पर विशेष ध्यान दिया है। इसके फूलों के संबंध की अनूठी उक्तियाँ सुनिये। 'नंदराम' जी कहते हैं—

कवित्त।

जालिम जुलुमदार जाहिर जहान जौन
डगर डगर बिष दगर बगारिगो।
कहै 'नँदराम' व्रज गाँव की गरीबिनिन
रावरे की बैरिनि नवेरिन को मारिगो॥
ऊधोजी हवाल कहि दीजौ नंदलालजू सो
गोकुल की गैल गैल गजब गुजारिगो।
फूले ना पलास ये पलास कै बसंत बाज
काढ़ि कै करेजे डार डारन पै डारिगो॥२८॥

जगत्प्रसिद्ध जबरदस्त जालिम रास्ते रास्ते विष फैला गया, व्रज की वियोगिनी बालाओं को तो उसने मानों मार ही डाला। हे उद्धव ! प्रमाण देख लो और कृष्ण से जाकर कह देना। ये पलास नहीं फूले, वरन वसन्त-रूपी बाज पक्षी ने वियोगियों का मांस तो खा लिया, पर उनके कलेजे इनकी डालों पर डाल गया है (अर्थात् ये पलास पुष्प नहीं, वरन वियोगिनियों के कलेजे हैं।)

पलाश = (पल = मांस, अश = खाना) मांस खाकर'।

पलास-पुष्पों की आकृति पर 'मधुसूदन' की उक्ति सुनिये—

सवैया ।

आयो वसंत दहंत सखी घर आये न कंत न पाये सँदेसे।
कोकिल कूक उठी चहुँ ओर ते हूक उठी यह लूक सी लेसे॥
याही ते जीव डरै 'मधुसूदन' जाति नहीं वन याही अँदेसे
फूलि पलास रहे जितही तित लोहू भरे नख नाहर केसे॥२०

कोई वियोगिनी कहती है कि हे सखी, जलानेवाला वसन्त आ गया, पर प्राणप्यारे नहीं आये और न कुछ सँदेशा ही मिला। कोकिल की कूक लूक सी दाहक जान पड़ती है। इसीसे डर लगता है और मैं वन को नहीं जाती। वन में पलास फूले हैं, वे मुझे खून से भरे सिंह-नख से लगते हैं।

'शङ्कर' कवि की बात सुनिये—

कवित्त ।

मदन महीप को सामन्त बलवंत दिस
बिदिसन बीरा लै बसंत उठि धाये हैं।
करत नवारन अवारन प्रताप जाको
'शंकर' बखानै यो अजब गुन गाये हैं॥
फिरत दोहाई भौंर भौरन के व्याज कूर
ललकारैं कोकिल की कूकनि गनाये हैं।
फूले ये पलासन न फूल काढ़ि काढ़ि मानो
नेजे में बियोगी के कलेजे लटकाये हैं॥२१॥

वसन्त मदन-महीप का सामत है, वियोगियों को मारने का बीड़ा उठाकर आया है। सब जङ्गलों (नवारन=नव=अरण्य) को नवीन रूप देता है ऐसा बेरोक प्रताप है। 'शङ्कर कवि ने इसके ऐसे आश्चर्यमय गुण गाये हैं। भौंर-भौंर की गुञ्जार के बहाने यह उन्हीं की दोहाई फिर रही है, कोकिल की कूक ही डॉट-डपट है। ये पलास-वृक्षों में फूल नहीं फूले, वरन वियोगियों के कलेजे हैं जो उसने निकाल निकालकर अपने सिपाहियों के नेजों पर टाँग दिये हैं।

'सेनापति' की सूझ देखिये—

कवित्त।

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं विशाल सग
स्याम रग भेंट मानो मसि में मिलाये हैं।
तहाँ मधुकाज आय बैठे मधुकर पुञ्ज
मलय पवन उपवन वन धाये हैं॥
'सेनापति' माधव महीना में पलास तरु
देखि देखि भाव कविता के मन आये हैं।
आधे अनसुलगे सुलगि रहे आधे मानो
बिरही दहन काम क्वैला परचाये हैं ॥३२॥

टेसू के फूल ऊपर लाल होते हैं नीचे काली भेंढ़ी होती है। उसपर कुछ काले काले भौंरे बैठे हैं। इसी दृश्य पर सेनापतिजी की उत्प्रेक्षा है कि ये मानो अनसुलगे कोयले के खण्ड हैं जो विरहियों को जलाने के लिये काम ने दहकाये हैं।

'दिनेश' जी दूसरी ही बात कहते हैं—

कवित्त।

निपटै कुटिल भाँति जात है निहारे हो न
करिके अधन देनहारे दुख दाह के।
राते राते रंगन समात जे न बन बीच
नीच लखि पथिक डरात जे वै राह के॥
कहत 'दिनेस' फूले कुसुम पलास वो न,
भागु मिलै नाहिं जो करैया चित चाह के।
सोनित समेत उठे बिरही कदन कारि
रदन बिलोकु बन मदन गराह के॥ ३३॥

बहुत ही टेढ़े हैं, जो देखे नहीं जाते, जो बेचैन करनेवाले और दुःख तथा सन्ताप देनेवाले हैं। लाल लाल रङ्ग के इतने अधिक हैं जो बन में नहीं अटते, राहगीर लोग जिनको देखकर डरते हैं। 'दिनेश' कहते हैं कि ये पलास के फूल नहीं फूल रहे हैं, यदि तुम्हारा चाहनेवाला तुम्हें नहीं मिला तो भागो, ये फूल नहीं हैं बरन वियोगियों को चबाने वाले मदन-रूपी ग्राह के रक्त-रंजित दाँत हैं।

पुन देखिये—

सवैया।

सग सखी के गई अलबेली सहा सुख सो बन बाग विहारन।
बाढि वियोग विलास गये सब देखत ही वे पलासकी डारन॥
जानि बसंत औ कंत विदेस सखी लगी बावरी सी ह्वै पुकारन।
च्वै चलि हैं चुरियाँ चलि बावरी आँगुरियाँ जनि लाउ अँगारन॥ ३४॥

कोई वियोगिनी दिल बहलाने के लिये सखी के साथ बाग में जाती है। वहाँ पलास की डालों को देखकर उसका दु:ख बढ़ता है। फूली हुई पलास-शाखाओं को देखकर उसे वसन्त की याद आती है। बावली सी होकर वह पुकार उठती है कि सखी, ये तो अँगार हैं, इनमें हाथ मत लगाना, नहीं तो इनकी आँच से काँच की चूड़ियाँ पिघल जायेंगी।

कवि 'रङ्गपाल' जी भी "शङ्कर" से सहमत हैं—

कवित्त।

आयो वीर जालिम वसन्त बलमारी साथ
हुकुम हजूर मैन तख्त नशीन के।
'रंगपाल' भनैं लीन चतुर विचारि सग
सोधन सुहेत पौन अखिल यरीन के॥
बन बन प्रति चहुँ ओरन विलोकियत
फूले फूले पुहुप पलास अवलीन के।
रेजे रेजे करि के न जात हैं सहेजे लट-
काये मोई नेजे मे करेजे विरहीन के॥३५॥

अर्थ में विशेष कठिनता नहीं है। भाव 'शङ्कर' ही का है।

पुन 'रङ्गपाल' जी की उक्ति देखिये—

कवित्त।

ऊधम यहाँ को जाय तिन सों सुनै ये बलि
चीठी लिखि जोग की बसीठी जिन भेजे ये।

'दिनेश' जी दूसरी ही बात कहते हैं—

कवित्त।

निपटै कुटिल भाँति लाल है निहारे जे न
करिकै अचन देनहारे दुरा दाह के।
राते राते रगन समात जे न बन बीच
नीच लखि पथिक डरात जे वै राह के॥
कहत 'दिनेस' फूलैं कुसुम पलास के न,
भागु मिलै नाहिं जो करैया चित चाह के।
सोनित समेत उठे बिरही कदन कारि
रदन बिलोकु बन मदन गराह के॥ ३३॥

बहुत ही टेढ़े हैं, जो देखे नहीं जाते, जो बेचैन करनेवाले और दु:ख तथा सन्ताप देनेवाले हैं। लाल लाल रङ्ग के इतने अधिक हैं जो वन में नहीं अटते, राहगीर लोग जिनको देखकर डरते हैं। 'दिनेश' कहते हैं कि ये पलाश के फूल नहीं फूल रहे हैं, यदि तुम्हारा चाहनेवाला तुम्हें नहीं मिला तो भागो, ये फूल नहीं हैं वरन वियोगियों को चबाने वाले मदन-रूपी ग्राह के रक्त-रंजित दाँत हैं।

पुन: देखिये—

सवैया।

सग सखी लै गई अलबेली महा सुख सों बन बाग बिहारन।
ताहि वियोग बिलास गये सब देखत ही वे पलासन की डारन॥
जानि बसंत औ कंत बिदेस सखी रागी बावरी सी ह्वै पुकारन।
च्वै चलि हैं चुरियाँ चलि आवरी आँगुरियाँ जनि लाउ
अँगारन॥ ३४॥

को चल पडी है। पलास-पुष्प की शोभा शुक-समूह की चोंच के समान पृथ्वी में फैलकर चित्त को चुराये लेती है। उन्हीं किंशुक-पुष्पों को अँगारा समझकर चकोर-गण चोंच में दबाकर चारोंओर घूमते फिरते हैं।

अम्बन के बौर ये न जानो कननैत काम
बिरचे सुपञ्जर पबारि नीर नेजे ये ॥
'रगपाल' किंशुक,अनार थाचनार कहा
सुमन समूहजुत सुमन सहेजे ये ।
डारन पै डारयौ है बसत बजमारो बाज
ऊधो बिरहीन के करेजन के रेजे ये ॥३६॥

हे उद्धव! यहाँ का ऊधम तुम उनसे जाकर कहना जिन्होंने तुम्हें योग-शिक्षा की पत्री देकर भेजा है। ये आम के बौर नहीं है, काम-कमनैत ने नीर और नेजे फेंककर शर-पञ्जर रचा है। 'रङ्गपाल' कहते हैं कि क्या ये टेसू, अनार और कचनार के मनभावने फूल हैं? कदापि नहीं। ये तो वज्र-मारा वसन्त-रूपी बाज विरहियों के कलेजों के टुकड़े करके यहाँ शाखाओं पर डाल गया है।

बहुतायत से पलास फूले हुए हैं। इसपर 'केशव दास' कहते हैं—

सवैया।

फूले पलास विलास थली बहु 'केशवदास' प्रकास न थोरे।
सेस असेस मुखानल की जनु ज्वाल विसाल चली दस ओरे॥
किंशुकश्री शुक तुंडन की रुचि राचे रसा-तल मे चित चोरे।
चञ्चुनि चॉपि चहूँ दिसि डोलत चारु चकोर अँगारन भोरे
॥३७॥

खूब पलास फूले हुए हैं। उनकी शोभा का महा प्रकाश हो रहा है। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो शेषनाग के सभी मुखों से ज्वाल-माला निकलकर दसों दिशाओं

केसर की घट को धार ले गिरधारन को ललिता नहवायो।
मानों महामणि मर्कत को पुखराज के संपुट बीच छपायो
॥ ३९ ॥

होरी-खेल का शोर-गुल हो रहा है, पिचकारियाँ चल रही हैं, गुलाल से आकाश छा गया है। इतने में ललिता ने कृष्ण के ऊपर केशरिया रङ्ग का एक घड़ा का घड़ा उड़ेल दिया। कृष्ण उसमें शराबोर हो गये।

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह घटना मुझे कैसी जँची मानो किसी ने एक बड़े भारी नीलमणि रत्न को पुख-राज के डब्बे में छिपा दिया हो।

'रामगोपाल' जी कहते हैं—

सवैया।

बाल झरोखा उघारि निहारि गुलाल लै लालन ऊपर डारै।
एक उरोज लख्यो उघरो पिय तामे दई पिचकारी की धारै॥
राभि थकी सबरी सजनी उपमा कवि 'रामगोपाल' विचारै।
मानहु मैन उछार दियो निबुवा थिरकै अनुराग फुहारे॥४०॥

फाग के समय कोई नवेली नायिका कोठे पर से, नीचे खड़े हुए नायक पर गुलाल फेंक रही है। अचरा खुल गया, एक कुच दिखलाई देने लगा। चतुर नायक ने झट नीचे से पिचकारी छोड़ी। पिचकारी की धार कुच पर आ लगी। इसपर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि उस समय मुझे ऐसा जँचा मानो कामदेव का उछाला हुआ निंबू अनुराग के फौवारे पर थिरक रहा हो।

होरी-फाग ।

'किशोर' कवि की कुशलता पर ध्यान दीजिये—

सवैया ।

ताकि छकी छवि सो री चली कहि
होरी है पै न लगै री गुपाल पै ।
साँवरो छैल छबीलो 'किशोर'
रह्यौ रचि लोभ लुनाई के जाल पै ॥
आली सभै उर मूठि गुलाल की
घाली लगी सो जगी पिय भाल पै ।
कंचन-वेलि की लौद प लाल सो
वैठो मनो उड़ि मञ्जु तमाल पै ॥ २८ ॥

होरी खेलते समय किसी गोपी ने कृष्ण के मस्तक पर गुलाब की मूठ घाली है । इसपर उत्प्रेक्षा है कि मानो कोई लाल (पक्षी) स्वर्ण-रङ्ग-लतिका की डाल से उड़कर सुन्दर तमाल पर जा वैठा ।

'लाल' कवि के उक्ति-रत्न की परख कीजिये—

सवैया ।

खेलत होरी किशोरी सखि पकरो री धरो री है शोर मचायो ।
मार परै पिचकारिनकी जहँ 'लाल' गुलाल सो अम्बर छायो ॥

कुच कचुकी छोर छुए छरकै 'पजनेस' फँदी फरकै ज्यो चिरी।
झरपै झपै कौंधै कढै तड़िता तरपै मनो लाल घटा में घिरी
॥ ४२ ॥

दोनों ओर से फाग-मडलियाँ उमड आई हैं, खूब घनी भीड है। गुलाल की धूँधुरी में धोखा देके कृष्ण ने एक गोपी को पकडकर उसके मुख पर गुलाल मल दिया। वह कुच छूते ही छरकती है जैसे जाल में कोई चिडिया फुदकती है, इतनी तेजी से इधर-उधर मुडती और भागती है, मानो लाल घटा में बिजली तडपती हो।

शोखी और तेजी का कैसा अच्छा चित्र है। अतिम दो चरणों के शब्द भी चित्र के अनुकूल होने से कैसा मजा दे रहे हैं। शब्दों का उचित और सजीव प्रयोग देखते ही बनता है।

पुन 'पजनेश' की उक्ति देखिये—

कवित्त।

फरस जरी को नग जूटित जटित मनि
मडित बितान ब्रज फागुभीर भरि गो।
कवि 'पजनेस' कीट कुडल कपोरा मुख
मडित अबीर दृग धूँधुरि धुँधरि गो॥
लागो कुमकुमा है सु गोरी के गुलाल भरो
बिथुरि उरोजन पे अदा सें उभरि गो।
फोरि तममडल ब्रह्म ड को अखड मानो
अरुण उदोत हेमगिरि पै बगरि गो ॥४३॥

जिन्हों ने फौवारे की छाँछ पर निंबू उछलते देखा होगा वे इस उक्ति की प्रशंसा अवश्य करेंगे। सांसारिक अनुभव को उचित मौक़े से काम में लाना ही हिन्दी कवियों की प्रतिभा की विशेषता है। सौंदर्य और अनुभव का कैसा सुन्दर मिश्रण है!

'व्रजचन्द' जी की उक्ति की छटा देखिये, पर खबरदार, प्रतिभा की आँख में चकाचौंध न आने पावे—

सवैया।

खेलत फागु जु मेरी भटू इनसों बडे चाय सों बावरी तै है।
केसरि के रँग की भरि सुंदरि डारत कामरी पै पिचकैं है॥
त्यौं 'व्रजचंदजू' साँवरे गातन लावै सुगंधन की लपटै है।
जे मँगुवा दधिमाखन के ते कहौ कहाँ ते फगुवा तोहि दैं है
॥ ४१ ॥

कोई सखी कृष्ण से फाग खेल रही है। कोई अन्य सखी विव्वोक हाव से मस्त होकर उससे कह रही है कि अरी बावरी, तू इस भिखमगे छोहरा से क्या फाग खेलती है? इनके पास क्या है जो तुझे फगुवा में देंगे। ये तो स्वयं ही दधि-माखन माँग माँगकर खाते हैं।

कैसा प्रेममय निरादर है!

'पजनेश' की फाग देखिये—

सवैया।

दुहुँ ओर सों फागुनही उमडी जहाँ श्री चढी भीरते भीरभिरी।
धधकी है गुनाल की धूँधुर में धरी गोरी लला मुख मीडीसिरी॥

कुच कचुकी छोर छुए छरकै 'पजनेस' फँदी फरकै ज्यो चिरी।
भरपै भपै कौधै कढ़ै तड़िता तरपै मनो लाल घटा में घिरी ॥ ४२ ॥

दोनों ओर से फाग-मडलियाँ उमड आई हैं, खूब घनी भीड है। गुलाल की धूँधुरी म धोखा देके कृष्ण ने एक गोपी को पकडकर उसके मुख पर गुलाल मल दिया। वह कुच छूते ही छरकती है जैसे जाल में कोई चिडिया फुदकती है, इतनी तेजी से इधर-उधर मुडती और भागती है, मानो लाल घटा में बिजली तडपती हो।

शोखी और तेजी का कैसा अच्छा चित्र है। अतिम दो चरणों के शब्द भी चित्र के अनुकूल होने से कैसा मजा दे रहे हैं। शब्दों का उचित और सजीव प्रयोग देखते ही बनता है।

पुन 'पजनेश' की उक्ति देखिये—

कवित्त।

फरस जरी को नग जूटित जटित मनि
मडित बितान ब्रज फागुभीर भरि गो।
कवि 'पजनेस' क्रीट कुडल कपोल मुख
मडित अबीर दृग धूँधुरि धुँधरि गो ॥
लागो कुमकुमा है सु गोरी के गुलाल भरो
विथुरि उरोजन पै अदा तें उभरि गो।
फोरि तममडल अखड को अखड मानो
अरुण उदोत हेमगिरि पै बगरि गो ॥४३॥

खूब फाग हो रही है, बड़ी भीड है, सबके मुख गुलाल से लाल हो रहे हैं, धुवाँधार अबीर गुलाल उड रहे हैं जिससे अँधेरा सा हो गया है। इतने में एक रसिक ने गुलाल-भरा कुकुमा किसी गौराङ्गी के कुच पर मारा। कुकुमा फूट गया, गुलाल कुच पर फैल गया। इसपर 'पजनेश' कहते हैं कि यह घटना मुझे ऐसी जँची मानो समस्त ब्रह्माण्ड के तममडल को फोडकर सूर्य की लाल छटा सुवर्ण-गिरि पर फैल गई हो।

कवि की दृष्टि ही तो ठहरी, कुछ का कुछ देखना कवि का साधारण स्वभाव होता है। 'पजनेश' को ऐसा ज्ञान पडा तो आश्चर्य क्या।

'दीन' कवि की भक्तिमय सूझ का मुलाहजा फरमाइये—

सवैया।

राजत राजस तामस पै कि कसौटी पै सोनो कसायो सुरंग है
राग दबाये सिंगारहि कै मघवाजित पै पसरो बजरंग है॥
नील अकाश लसै अरुणोदय कै जमुना पर लालि तरंग है।
दीन अनूप छटायुत कै रघुलाल के गाल गुलाल को रंग है॥४४

श्रीरामजी के गालों पर गुलाल मला गया है। इसपर सदेहात्मक अनुमान सुनिये—

क्या यह तमोगुण पर रजोगुण विराज रहा है, या कसौटी पर अति खरा सोना कसाया गया है, या अनुराग शृङ्गार को दबाये हुए है, या मेघनाद पर श्री हनूमानजी फैले पड़े हैं, या नीलाकाश में अरुणोदय हुआ है, या यमुना-

जल पर सरस्वती की धारा बह रही है, अथवा श्रीरामजी के गाल पर गुलाल लगा हुआ है ?

'गोकुलनाथ' कवि को फाग में भी सावन की हरियारी ही सूझती है—

सवैया ।

फागु मची बरसाने मे आजु सखी चलि कै जो कछू लरि जानो ।
आलिन संग लली वृषभान की लाल सखान लये सुख सानो ॥
ऐसी गुलाल की धूँधुर मे तिन्हैं 'गोकुलनाथ' बिलोकि बखानो
सावन साँझ के माँझ सरी मिलि खेलत हैं चपला घन मानो
॥ ४५ ॥

बरसाने में फाग हो रही है । एक ओर श्री राधिकाजी की टोली है, दूसरी ओर कृष्णजी का गोल है । धुँआधार गुलाल उड़ रहा है । इसपर कवि कहता है कि मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि सावन मास की सन्ध्या में मानो बिजलियाँ और बादल खेल रहे हों ।

'पजनेश' की विलक्षण उक्ति पर ध्यान दीजिये—

कवित्त ।

किरिनि सी कढ़ि आई अंगना उघारे गात
कवि 'पजनेश' छैलि छिति पै सिहरिगो ।
उझकि झपाक मुख फेरो प्यारे मुख ओर
हेरि हेरि हरषि हिमन्त पै अरिगो ॥
आधो मुख नलत अबीर त्यों मुकेस साथ
नखरेख चिन्हित चकोरन पै झरिगो ।

देता है। केसर के रङ्ग से इन्द्रधनुष की सी शोभा होती है और अनेक प्रकार के रङ्गों से वर्षा सी हो रही है। बाजे जो बज रहे हैं वही गरजन है। आज तो कृष्ण ने फाग में वर्षा की छटा दिखला दी।

पाठक! देखी आपने कवियों की अनोखी सूझ? कवि लोग दूसरे ब्रह्मा हैं। कुछ का कुछ कर दिखाना इनके बायें हाथ का खेल है।

लीजिये, 'गिरधारन' जी की दूसरी करामात देखिये। किसी नवेली नागरी को आप मूर्तिमान होली ही के रूप में दिखलाते हैं—

सवैया।

केसर सो रँग चोवा से केस गुलाल सी है अधरान ललाई।
कुंकुम से कर कुंकुमा से कुच नैन की सैन बनी पिचकाई॥
बुक्का सी सारी लसै 'गिरधारन' टेसू सी चोली चुभी अधिकाई
गोरी गोपाल सो खेलन होरी, सरूप धरे मनो होरी सुहाई
॥ ५७ ॥

उसका रङ्ग ही केसर का रङ्ग है, उसके केश ही चोवा है, उसके अधर ही गुलाल है, रोचना से हाथ हैं, कुच ही कुमकुमा है, और कटाक्षपात ही पिचकारी हैं। सफेद सारी ही बुक्का है, कचुकी ही टेसू पुष्प का रङ्ग है। इस तरह की नवेली स्वयं होली का सा रूप धारण किये हुए कृष्ण से होरी खेलने को आ गई है।

धन्य गोपाल जिनके साथ ऐसी नायिका होली खेले, धन्य 'गिरधारन' जिन्हें ऐसी-उक्ति सूझे और धन्य वे पाठक जो इसका मजा समझें।

पुन 'गिरधारन' की गनय की सूझ देखिये—

सवैया।

खेलत खेल फमेलन में रस खेलन खेल बडो अनमोला।
सोहत है 'गिरधारन' मार हजारन वारन रूप अतोला॥
एक सखी तहँ रामहिं देखिकै सीस ते केसर को घट ढोला।
मानहु शुद्ध सतोगुण ने वहिरयो धरि चाह रजोगुण चोला॥५१॥

फाग हो रही है। खूब भीड है। अनेक अनमोल रसमय खेल हो रहे हैं। ऐसे अनुपम रूप का जमघट है कि हजारों कामदेव निछावर कर दिये जायें। इतने में केसर-रङ्ग से भरा हुआ घडा रामजी के ऊपर लुढका दिया। रामजी सिर से पैर तक उस केशरिया रङ्ग से शराबोर हो गये। यह रूप गिरधारन को कैसा जँचा मानो शुद्ध सतोगुण ने बडे शौक से रजोगुण का लिबास पहन लिया हो।

कवित्त।

खेलत हैं होरी हरि राधे आज वृन्दावन
ऐसी जुरी भीर अंग अंग सो छिलत है।
लाल को मयङ्क मुख मण्डल सो दरसात
जब वाके कर के गुलाल सो मिलत है॥
घूँघट उघारत करत वार वार चोट
ग्वालमुख स्याम धीर ऐसे निकलत है॥
मानो प्रभु आगे राहु वैर निज लेन काज
चन्द गुनही को लै गिलत उगिलत है॥५२॥

कृष्ण और राधिका ने होरी मचाई है। बडी भीड है। अङ्ग से अङ्ग छिलता है। जब राधे के हाथ से गुलाल लगता है तब कृष्ण का मुख-चन्द्र मण्डल सा लाल हो जाता है। कोई

गोपी बार बार घूंघट खोल खोलकर कृष्ण की ओर कटाक्ष-पात करती है। उसकी साडी श्याम रङ्ग की है। उस श्यामरङ्ग साडी से उसका मुख बार बार खुलता और ढँकता है। यह घटना ऐसी जान पडती है मानो राहु कृष्ण के सामने ही अपना वैर चुकाने के लिये दोषी चन्द्रमा को बार बार निगलता और उगलता है।

कैसी दूर की सूझ है! अनोखी उत्प्रेक्षा है!!

काव्य के मुख्य चार उद्देश्य होते हैं—(१) घटना-वर्णन, (२) उस घटना का सौन्दर्य-प्रकाशन, (३) सांसारिक अनुभव, (४) उसके फल से कोई शिक्षा। इस कवित्त में चारों चीजें मौजूद हैं। अतः यह परमोत्तम काव्य है।

[१] घटना-वर्णन—खेलत हैं होरी हरि राधे आज वृन्दावन।

[२] सौन्दर्य-प्रकाशन—लाल को मयक ... बार बार चोट।

[३] सांसारिक अनुभव—वैर लेने के लिये दोषी को दण्ड देना।

[४] शिक्षा—किसी से द्वेष न करो, नहीं तो चन्द्र की तरह सताये जाओगे।

'नेही' कवि फाग-खेल ही में षट् ऋतु दर्शाते हैं—

कवित्त।

उड़नि गुलाल की घमंडि घन छाय रह्यौ
पिचकी चलत धार रस बरसाई है।
चाँदनी सरद बुक्का चंद मुख छवि फबी
काँपत हिमत भीजे दोऊ सखदाई है॥

धाय कै धरत पिय सिमकि सिसिर चीर
केसरि सरीर तें वसत दरसाई है ।
ग्रीपम गरूर बोन पिय सों कहत नेही'
फागु की समाज कैधों छवौ ऋतु छाई है ॥ ५३ ॥

पिचकारी का चलना और गुलाल की धूँधुर से वर्षा का आभास मिलता है। बुक्का के उडने और चन्द्रमुखियों के जमघट से शरद की सी चाँदनी और चन्द्रमा का आभास पाकर शरद सी जान पडती है। रङ्ग से भींगकर दोनों काँपते हैं, इससे हेमन्त का मजा आता है। नायक जब दोडकर नायिका को पकडता है तो वह सिसकती है, यही शिशिर है। केशर के रङ्ग से चीर रँग गये हैं, यही वसन्त की छटा है। नायिका क्रुद्ध होकर गर्व-युक्त वचन नायक से कहती है, यही ग्रीष्म की गरमाहट है। 'नेही' कवि कहता है कि इसे मैं फाग की समाज समझूँ या षट् ऋतु का जमघट ?

'किशोर' कवि की प्रौढ़ता देखिये—

कवित्त ।

आई फाग खेलि कै मकेलि सुख साँवरे सों
सुंदरि सुघर जो सनेह सरसावै है ।
केसरि के रंगभीनी चूनरि सुरंग रंग
अंगन अनंग-रंग रंग दरसावै है ॥
लसत 'किसोर' आयो बदन गुलाल मढ्यो
सुंदर सुरूप सों अनूप छवि छावै है ।
अमल अभंग आछो उतसाह सानो मानो
अरुण घटा तें ससि निकसत आवै है ॥ ५४ ॥

कोई सुन्दरी कृष्ण से फाग खेलकर घर आई है। चूनरी भीग गई है, शरीर से अनङ्ग-रङ्ग झलकता है। एक गाल पर गुलाल लगा है। ऐसे रूप की छटा किशोरजी को ऐसी जान पडी मानो अरुण घटा से उत्साह-पूर्वक पूर्ण और निर्मल चन्द्रमा निकलता आता हो।

नाम तो 'किशोर', पर प्रौढ़ता इतनी!, शाबाश भाई, शाबाश!!

भागती हुई नायिका की छवि का चित्र देखिये और 'चिरजीवी' कवि को चिरजीवी होने का आशीर्वाद दीजिये—

कवित्त।

होरी के दिवस कहूँ गोरी राधिका को देखि
कान्ह जिय माँझ यो विचारयो बुधि धीले तें।
आजु बिन रँगे क्यो हू छाँडिहौं न लाडिली को
घालन में लाग्यो फिरै आनँद के ढैले तें॥
कहै चिरजीवी त्योंही लाल पिचकारी लैकै
लपक्यो प्रिया पै प्रिया भागी तकि तीखे तें।
ओढनी सरकि चोटी पीठि यो लखात मानो
इन्दु भज्यो जात औ फनिन्द परयो पीछे तें॥५५॥

फाग के दिन कृष्ण ने विचारा कि आज राधिका को जरूर रङ्ग से भिगोना चाहिये। घात पाने पर कृष्ण ने पिचकारी चलानी चाही। राधिकाजी भागीं। कृष्ण ने रपटाया। साड़ी सिर से खिसक गई। उस समय

राधिका की चोटी कवि 'चिरजीवी' को ऐसी दिखाई दी मानो चन्द्रमा (मुख) भागा जाता है और कोई बड़ा काला भयङ्कर नाग उसे रपटाये जाता है।

ग्रीष्म ।

ग्रीष्म का रूप देखिये—

कवित्त ।

जेयें बिना जीरन सो जल की जिकिर जीभ
जरो जात जगत जलाकन के ओर तें।
कूप सर सरिता सुखाय सिकता-मै भई
धाई धूरि धौरन धराधर के ओर तें॥
'बेनी' कवि कहत अनातप चहत सब
अगिन सो आतप प्रकाश चहुँ ओर तें।
तवा सो तपत धरामंडल अखंडल औ
मारतंड मंडल दवा सो होत भोर तें॥ ५६॥

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खसबीजन डुलाये ना सुखात स्वेद
गात न सोहात बात दावा सी डरापिनी॥
'ग्वाल' कवि कहै कोरे कुभन तें कूपन तें
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब
पीवत हू पीवत बुझै न प्यास पापिनी॥५७॥

बिहारीजी ग्रीष्म की गर्मी की अधिकता यों वर्णन करते हैं—

दोहा ।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥५८॥

कहलाये हुए (ऊष्म से व्याकुल) साँप और मोर तथा मृग और सिंह एकत्र रहते हैं (गर्मी से व्याकुल होने के कारण प्राकृतिक बैर-भाव भूल गये हैं)। इस ग्रीष्म ऋतु की कड़ी ऊष्मता ने संसार को तपोवन बना दिया है।

जेठ की दुपहरी में वृक्षों की छाया ठीक उनके नीचे रहती है। इसपर कवि कहते हैं—

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन तन माहिँ।
निरखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाहिँ ॥५९॥

जेठ की दुपहरी देखकर, गर्मी के डर से, छाया भी छाया चाहती है। इसी कारण, देखो, सघन वनों में वृक्षों की छाया वृक्षों के नीचे ही घुसी रहती है।

ग्रीष्म में सूर्य उत्तरायण होता है। इसपर एक कवि कहता है—

जेठ ज्वाल भय सूर हू, गयो हिमालय देस।
हिम भजि उदर दरी दुरत, दिनहिं कलेस प्रवेस ॥६०॥

जेठ में गरमी की ज्वाला से भयभीत होकर सूर्य भी हिमालय सेवन के लिये उत्तर देश को चला जाता है। बर्फ भी भागकर मनुष्यों के पेट में छिपता है (लोग बर्फ

खाते-पीते हैं)। 'दिन' को अत्यन्त क्लेश होता है, पर बेचारा यह कहाँ जाय?

'करण' कवि ग्रीष्म को मस्त हाथी के रूप में देखते हैं—

कवित्त।

घहकर झारत, झकोरत सरोष पौन,
तोरत तमाल गन, मन्द दिन भारो सो।
धर्स कै धरनि गिरि, तमकै प्रताप जाको,
देखत मजेज रेज, जगत निदारो सो॥
तरु छीनछाया, सर सूखत समुद्र बन,
'करण' विचारि देखो आतप अँगारो सो।
छावत गगन धूरि धावत धँयात आवै
चोप चढो ग्रीषम गयद मतवारो सो॥६१॥

प्रचण्ड सूँड (तीक्ष्ण किरणें) फटकारता हुआ, क्रोध से पवन को झकोरता हुआ (क्रुद्ध श्वास छोडता हुआ), तमालादि वृक्षों को तोडता हुआ, मन्दगति, मुसीबत के दिनों की तरह पृथ्वी और पहाडों को दबाता हुआ, जिसका प्रताप (तेज, और कडी धूप) तमतमा रहा है, जिसके देखते ही बडे बडे मिजाजियों का मिजाज झड जाता है, सारा ससार निद्रालु सा जान पडता है (गरमी में आलस्य अधिक होता है), वृक्ष छाया-रहित करता हुआ, ताल और समुद्र का पानी सोखता हुआ, अङ्गारा सा घाम करता हुआ, आकाश तक धूल उडाता हुआ, क्रोध से दौडता और धाँय धाँय करता हुआ, बडे चोप से यह ग्रीष्म मतवाले हाथी की भाँति आ रहा है।

'दीनदयालगिरि' ग्रीष्म पर खल-मंडली का संदेह करते हैं। पूर्ण रीति से दिखलाते हैं कि ग्रीष्म में खल-मंडली के गुण हैं—

कवित्त।

पतित द्विजन को है देत सुमनै सुखाय
लगैं अति कानन मे बात ताप ते बली।
मित्र वृष को है जहाँ भारी दुखकारी बनो
बोरी दृग राते बिन काल वृथा ही खली॥
जीवन जलावति है लावति है आगि मनो
'दीनदयाल' सरस न मिलैं जल की थली।
देत नाहीं बसन सु बसन उतारे बिन
कैधौं यह ग्रीषम कै घोर खल-मंडली॥६२॥

जैसे खलगण ब्राह्मणों के चित्त को दुःख देते हैं, वैसे ही यह पतित ग्रीष्म द्विजगण (पक्षीगण) और सुमन (देवता और फूल) को सुखा देता है (कष्ट देता है)। कानों में जैसे दुष्टों के वचन सतत लगते हैं, वैसे ही जगल (कानन) में गर्म हवा लगती है। जैसे खलगण बैलों (नासमझ लोगों) के मित्र होते हैं, वैसे ही ग्रीष्म में सूर्य वृषराशि का (मित्रवृष) होकर बड़ा दुःख देता है, और जैसे खल लोग बिना कारण ही लाल आँखें करके बोलते हैं, वैसे ही ग्रीष्म में अकारण ही कोयल (दृगराते = कोयल) बोलती है, जीवों को (जल को) जलाती हुई, आग सी लगाती है। ढूंढने से भी जल-स्थल सरस नहीं मिलते (खलों में कोई भी सरस-हृदय नहीं मिलता)। बिना कपड़े उतरवाये खल ही नहीं देती, अतः यह ग्रीष्म ऋतु है या महा कठोर खलों की मण्डली है?

पाठक-गण देखें कि किस खूबी से ऋतु वर्णन के व्याज से हमारे कवि-गण संसार के अनुभवों की शिक्षा देते थे।

'सेनापति' की करामात देखिये। गरमी में लोग तहखानों में रहते हैं, क्योंकि वहाँ कुछ ठण्ढक रहती है। इसपर आप कहते हैं—

कवित्त।

'सेनापति' ऊर्यें दिनकर के चलत लूवे
नद नदी कूवे कोपि डारत सुखाय कै।
चलत पवन मुरझात उपवन वन
लाग्यो है तवन डारयो भूतलों तचाय कै॥
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें
सीत रहै कछु तहखानन मे जाय कै।
मानो सीतकाल पुनि सीतहिँ जमाइबे को
राखत बिरंचि बीज धरा मे छिपाय कै॥६३॥

सूर्य निकलते ही लू चलने लगती है और नदी, नाले, कूप सुखा डालती है। गर्म हवा के चलने से वन-बाग मुरझा जाते हैं। पञ्च भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) तप जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु भीषण रूप से तपती है। तब सरदी तहखानों में जा छिपती है। यह घटना मुझे ऐसी जान पड़ती है मानो शीत काल में पुन सरदी पैदा करने के लिये ब्रह्माजी सरदी का कुछ बीज पृथ्वी के नीचे गाड़कर रख छोड़ते हैं।

कसी अनूठी सूझ है!

'वृषभान' कवि की उक्ति भी सुनिये—

कवित्त।

जीवन को त्रासकर ज्वाला को प्रकासकर
भोर ही ते भासकर आसमान छायो है।
धमका धमक धूप सूखत तलाव कूप
पौन को न गौन भौन आगि में तचायो है॥
तकि थकि रहे जकि सकल बिहाल हाल
ग्रीषम अचर चर खचर सतायो है।
मेरे जान कहूँ 'वृषभान', जग मोचन को
तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है॥ ६४॥

आप 'वृषभानु' (वृषराशि-गत भानु) को शिवजी का तीसरा नेत्र ही मानते हैं। सवेरे ही से आकाश में सूर्य ऐसा तपता है कि जीवों को त्रासकर, और ज्वाला को प्रकाश करने वाला हो जाता है। धूप के धमका से तालाव और कुएँ सूखते हैं और पवन भी नहीं चलती। मकान अग्नि से तप जाते हैं। जलचर, थलचर और नभचर सब ही थकित होकर बेहाल हो जाते हैं। कवि कहता है कि मुझे तो ऐसा मालूम होता है मानो किसी ने संसार को नष्ट करने के लिये महादेवजी के तीसरे नेत्र को खुलवाया है।

जेठ में दोपहर के बाद थोड़ी देर के लिये हवा का चलना रुक जाता है। प्रकृति की इस घटना को लेकर 'सेनापति' जी कहते हैं और खूब कहते हैं—

कवित्त।

वृष को तरनि तेज सहसौ करनि तपै
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।

तपति धरनि जग झुरत झुरनि सीरी
छाँह को पकरि पथी पछी बिरमत है॥
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत होत
घमका बिषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि कोनो
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥६५॥

वृष राशि का सूर्य हजारों किरणों से भयङ्कर ज्वाला बर्षाता है, पृथ्वी तच जाती है, संसार झुलसता है, पथिक और पक्षी-गण कहीं बैठकर आराम करते हैं। दोपहर लौटते थोडी देर के लिये बड़ा कठिन घमका (हवा का ठहर जाना) होता है कि कोई पत्ता भी नहीं डोलता। यह घटना मुझे तो ऐसी जान पडती है मानो किसी ठण्डे स्थान का कोना पकडकर पवन भी बैठकर घाम निवारता है।

'नैन' कवि की भी दृष्टि देखिये—

कवित्त।

प्रबल प्रचंड चडकर की किरन देखो
बेहर उदंड नवखंड धुमिलति है।
औटि कै कराही रतनाकर को तेल जैसो
'नैन' कवि जल की लहर उछलति है॥
ग्रीषम की कठिन कराल ज्वाल जागी यह
काल ब्याल मुखहू की देह पिघलति है।
लूका भयो आसमान, भूधर भभूका भयो
भभकि भभकि,भूमि दावा उगिलति है ॥६६॥

अर्थ सरल है।

'दत्त' जी की दृष्टि देखिये—

सवैया।

ग्रीषम में तपैं भीषम भानु गई बन कुंज सखीन की भूल सो।
घाम ते काम लता मुरझानी बयारि करै घनस्याम दुकूल सो॥
कंपति श्री प्रगटो परस्वेद उरोजन 'दत्त' जू ठोढी के मूल सो।
है अरविंद कलीन पै मानो झरै मकरंद गुलाब के फूल सो
॥ ६७ ॥

गर्मी में किसी नायिका की ठोढी से पसीना टपकता है। दत्तजी उसे यों देखते हैं मानो गुलाब के फूल से मकरंद टपकता हो।

'ब्रह्म' कवि गरमी की कहल का वर्णन करते हैं। इतनी गरमी है कि जीवजन्तु ने प्राकृतिक वैर छोड दिया है—

कवित्त।

उछरि उछरि भेकी झपटै उरग पै
उरग पग केकिन के लपटै लहकि है।
केकिन के सुरति हिये कीना कछू है भये
एकी करी केहरि न बोलत बहकि है॥
कहै कवि 'ब्रह्म' वारि हेरन हिरन फिरैं
बैहरि बहति बड़े ओर सो जहकि है॥
तरनि के तावन तवा सी भई भूमि रही
दसहू दिसान में दवासी लौ दहकि है॥६८॥

उछल उछल कर मेंढकी सर्प से लिपटती है।
सर्प मोर के पैरों से लिपटता है। मोर को कुछ सुध नहीं।

हाथी और सिंह एक हो रहे हैं, कोई बोलते तक नहीं। हिरन जङ्गलों में पानी ढूँढते फिरते हैं। हवा बडे जोर से बहती है। सूर्य की ताप से जमीन तवा सी हो रही है और दसों दिशाओं में लू दावानल सी दहकती है।

कैसी कडी गरमी है!

'नागरीदास' जी जलकेलि करती हुई गोपियों का वर्णन करते हैं—

कवित्त।

ग्रीषम बिहार भौन साँवरे के ढिग गौन
सरिक्रीडा सोभत सहेली लिये सग की।
होत बलि केलिन के विविधि विधान तहाँ
बाढ़ी है ललक उर आनँद उमग की॥
ता समै भई जो सोभा बरनी न जात मोपै
दमकि उठी है दुति दूनी अग अंग की।
'नागरी' वे कैसी लगैं तरनी तरगनि मे
पानी पर पावक ज्यों फिरत फिरग की॥६८॥

ग्रीष्म में विहार-भवन के जलाशय में आनन्द सहित गोपियाँ अनेक प्रकार से जल-विहार करती हैं। उस समय छोटी छोटी नावों पर गोपियाँ बैठी हैं और वे नावें लहरों से उछलती बैठती हैं। तब ऐसा जान पडता है मानो पानी पर जादू की बनी हुई आग की पुतलियाँ फिर रही हों।

वर्षा ।

वर्षा का साधारण रूप देखिये—

कवित्त ।

घन बरसावन है बिज्जु तरपावन है
चहुँ ओर धावन है बैहर सगाढ़ की।
मानिनी भयावन है मोर हरषावन है
दादुर बोलावन है अति आढ आढ की॥
'श्रीपति' सोहावन है झिल्ली झनकावन है
बिरही सतावन है चिंता चित बाढ़ की।
लगन लगावन है मदन जगावन है
चातकी को गावन है आवन असाढ की ॥७०॥

भ्भिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले
मंद मंद मारुत मुहीम मनसा की है।
कहै 'पदमाकर' सु-नंदन नदीन नित
नागरी नवेलिन की नजर निसा की है॥
दौरत दरेरे देत दादुर सुदूदैं दीह
दामिनी दमकनि दिशान में दिसा की है।
बद्दलनि बुन्दनि बिलोको बँगलानि बागे
बगुलानि बेलिन बहार बरसा की है ॥७१॥

सवैया।

सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पद्माकर' देखे बनै कहते न बनै अनुराग अगाधा॥
प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसैं बरसैं अनुराग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलति राधा
॥ ९२॥

भादौंकी कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुहीं बरसावै।
राधिका आपनी ऊँची अटा पै चढ़ी रसमत्त मलारहिं गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि ते आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै
॥ ९३॥

कवित्त।

जुगुनू उतै हैं इतै जोति है जवाहिर की
झिल्ली झनकार उतै इतै घूँघुरू लरैं।
कहै कवि 'तोष' उतै चाप इतै बंक भौंह
उतै बकपाँति इतै मोती माल ही धरै॥
धुनि सुनि उतै सिखी नाच सखि नाचै इतै
पी करै पपीहा उतै इतै प्यारी सी करैं।
होड़ सी परी है मनो घन घनस्याम जू सों
दामिनी को कामिनी को दोऊ अंक में भरैं॥९४॥

अब आगे विशेष वर्णन देखिये—

वर्षा ऋतु आनन्दी जीवों को कैसी आनन्दमय दीख पडती है—

दोहा ।

पावस में सुरलोक से जगत अधिक सुख मान ।
इन्द्र वधू जेहि ऋतु सदा छिति विहरति हैं आन ॥९५॥

बरसात में सुरलोक की अपेक्षा पृथ्वी पर ही अधिक आनन्द मिलता है। इसीसे इस ऋतु में इन्द्रवधू (वीर-बहूटी) इन्द्रलोक छोडकर पृथ्वी पर आकर विहार करती हैं।

इस सूझ ने कवि के दिमाग की उच्चता और उत्तमता प्रगट होती है।

अब 'विहारी' के शब्दों में किसी विरहिनी का विचार सुनिये—

धुरवा = दूर पर बरसते हुए बादलों के नीचे धूम्र-वर्ण डोरियों सी गिरती हुई बूँदों की झडी।

दोहा ।

धुरवा होहिँ न अलि उठै धुँवाँ धरनि चहु कोद ।
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद ॥ ९६ ॥

कोई विरहिनी कहती है कि ये धुरवाएँ नहीं पड रही हैं। हे सखी, यह तो चारोंओर धुआँ उठ रहा है (धुरवायें देखने में धुआँ सी जान पडती हैं)। जान पड़ता है कि वर्षा के पहले बादल संसार को जलाते इधर आ रहे हैं।

यह उक्ति बिहारी की बारीकबीनी का प्रमाण है।

कवियों की दृष्टि और सृष्टि ही दूसरी होती है। देखिये, मनचित कवि महाशय पावस को काम की कचेहरी करार देते हैं—

कवित्त।

चातक वजीर वीर वकसी समीर धीर
पुरवाई महावीर केकी कुमैदान है।
दादुर दरोगा इन्द्रचाप इतमाम घटा
जाल बगमाल ठाढ़ो खान सुलतान है॥
गरजन अरज करन जन ' मनचित '
जिन सब जेर किये, देस देस आन है।
मेघ आमखास जामे दामिनी तखत यह
पावस न होय पंचबान को दिवान है॥१७॥

चातक वजीर है, मंद वायु ही बकसी (तनखाह बाँटनेवाला अफसर) है, पुरवा हवा योद्धा और मोर सेनानायक है। दादुर ही दारोगा है, इन्द्रधनुष ही प्रबन्धकर्ता है। घटायें और बकपंक्ति ही बड़े बड़े दरबारी हैं। 'मनचित' कवि कहता है कि बादलों की गरज ही दीनजनों का रो रोकर अपनी फर्याद सुनाना है। मेघ ही आमखास (बादशाह के बैठने का कमरा) है जिसमें बिजली ही सिंहासन है। यह वर्षा ऋतु काम की कचेहरी है, जिसने सबको अपने अधिकार में कर लिया है और जिसकी सब देशों में धाक है।

रूपक द्वारा पुष्ट शुद्धापह्नुति अलङ्कार की छटा भी सराहनीय है।

'गिरधरदास' जी पावस में बधाई का सामान देखते हैं, और तुर्रा यह कि पृथ्वी और आकाश दोनों में बधाई ही बधाई है—

कवित्त ।

भूमि नाचैं नर्तक से मोर ए री चहूँ ओर
चपला अकाश देवनारि सी नचति है।
गायक से गान करैं चातक विपिन घन
गधरब गावैं गीत आनँद रचति है॥
'गिरधरदास' देव फूल बरसावैं जल,
सुमन लुटावैं तरु वृद्धि यो जँचति है।
पावस को जनम भयो री यासो सुषमा सो
अवनि अकास में बधाई सी मचति है॥७८॥

भूमि में मोर नाचते हैं, आकाश में बिजली नाचती है। भूमि में पपीहा गाता है, आकाश में मेघ गाते हैं। भूमि में तरुगण फूल बरसाते हैं, आकाश में देवता जो फूल बरसाते हैं वही जल का बरसना है। पावस ऋतु का जन्म हुआ है, इसीसे बड़ी अच्छी तरह से जमीन और आसमान में मानो बधाई हो रही है।

'गुलाब' कवि वर्षा को इन्द्र की चढ़ाई बताते हैं। इसको भी देखिये—

सवैया ।

घन घोर न घोर निसान बजैं बगुला न धुजागन सेषर को।
चपला न 'गुलाब' कृपान कढ़ी जलधार नहीं भर है सर को॥

धुनि दादुर चातक मोरन की न कुलाहल है अरि के घर को।
धरु धीर हिये बरषा न भटू गिरि ऊपर कोप पुरंदर को
॥ ७९ ॥

यह बादलों की गरज नहीं, वरन रणवाद्य बज रहे हैं। बकपंक्ति नहीं, वरन देवगण की ध्वजा है। यह बिजली नहीं, वरन नंगी तलवार है। बुंदवर्षा नहीं, वरन यह बाणवर्षा है। दादुर, चातक, मोरों का शोर नहीं, वरन शत्रु (पहाड) के घरवालों का गुल-गपाड़ा है। हे भटू, धीरज धर, वर्षागम से व्याकुल मत हो। यह वर्षा नहीं है, वरन पहाड़ों पर इन्द्र की चढ़ाई हुई है।

वर्षागमन से व्याकुल विरहिनी को सान्त्वना देने के लिये शुद्धापह्नुति अलंकार का कैसा अच्छा प्रयोग है!

'कान्ह' कवि की विचित्र उक्ति देखिये—

कवित्त।

गरज फुँकार सो बियोगी तन छार भये
बूँदैं बिषबारि परैं महा बिषधारी के।
धुरवा अनेक फन-मण्डल को बिज्जु मनि
चमकि चकित चित होत नर नारी के॥
ओरे फेन करै वायु मन्त्र सो सँचार करै
देसन मे रोग परै सूरत डरारी के।
मानिनि मँडारे बिष बामी ते निकारे 'कान्ह'
फिरै घन कारे नाग पावस खिलारी के॥८०॥

आप कहते है कि ये बादल पावस-रूपी सँपेरे के सर्प है जिनको उसने मानिनी-मंडली की विषमयी बाँबी से

निकाला है। इनकी गरज-रूपी फूत्कार से बेचारे वियोगी जन जलकर खाक हो गये। बूँदे ही इनकी विष-बूँदें हैं, धुरवाएँ फन-मंडल है, बिजली ही उनकी मणि है जिसे देख कर नर नारी चकित-चित्त हो जाते हैं। बड़ी बूँदे ही फेन है, झंझा वायु ही मन्त्र है जिससे वे भगाये जाते है। इनकी इतनी भयकर सूरत है कि देश-देशान्तर में इनके कारण चिल्लाहट मच गई है।

क्या अनोखी सूझ है ! कैसा पूर्ण और सुन्दर रूपक है !!

'मुबारिक' कवि पावस देवी को मुबारिकबादी देनेवाली बताते हैं। किसी विरहिनी के मुख से कहलाते हैं—

कवित्त।

बाजत नगारे घन ताल देत नदी नारे
झींगुरन झाँझ भेरी भृंगन बजाई है।
कोकिल अलापचारी नीलकण्ठ नृत्यकारी
पौन बेनुधारी चाटी चातक लगाई है॥
मनिमाल जुगुनू 'मुबारक' तिमिर थार
चौमुख चिराग चारु चपला जगाई है।
बालम विदेश नये दुख को जनम भयो
पावस हमारे लायी विरह बधाई है॥=१॥

मेरे पतिदेव परदेश में हैं, मेरे घर में नवजात विरह का जन्म हुआ है। अब पावस देवी विरह-बधाई लाई हैं। बधाई का सामान देखिये—

जेवरों की चमक-दमक है वक-पंक्ति ही मोती-हार है, लाल, पीले, सफेद वादल ही अन्य वस्त्र है, मिरवों की चैंचें ही नूपुर की झनकार है। यह नवेली कृष्ण के दर्शन करने को आई है।

'गुलाब' कवि वर्षा को पृथ्वी पर सूर्य-प्रेम के रूप में देखते हैं। आप कहते हैं—

सवैया।

बकमार नहीं दृगवारि परै धुरवा न रुमावलि ठाकर की।
यह मोरन को नहिँ शोर 'गुलाब' अभयकर-बानि दयाकर की
नहिँ बूढ प्रजा अनुराग रँगी जलधार न पाल चराचर की,
जनि सोच करै बरपा न भटू धर ऊपर प्रीति दिवाकर की॥८५॥

यह बकमाल नहीं है, वरन सूर्य के नेत्रों से निकले हुए प्रेमाश्रु हैं। ये धुरवायें नहीं, वरन यह सूर्य के रोमांच हैं। यह मोरों का शोर नहीं, वरन सूर्य भगवान की अभय-प्रद वाणी है। ये वूढियाँ (वीरबहूटी) नहीं, वरन अनुराग-रंजित प्रजा है। यह जलधारा नहीं, वरन चराचर को पालन करनेवाली शक्ति है। हे भट, सोच मत कर, यह वर्षा नहीं, वरन पृथ्वी पर दिवाकर की प्रीति का प्रदर्शन है।

एक और भी कवि वर्षा को बधाई-रूपमें देखते हैं—

कवित्त।

साँझहू सकारे झनकारे होत नदी नारे
पावस के झाँझ झाँझ झिल्ली ना लसत ये।

दामिनि मसाल को दिखावै ताल दादुर दे
　　　　मोर चहुँ ओर नाचि नाटको सजत ये ॥
धुरवा मृदगन की धीर धुनकार ठानै
　　　　रातेनैन माते कलि गान को भजत ये।
शोक को जनम व्रज ओक में भयो है ऊधो
　　　　साँवरे विरह ते बधावरे बजत ये ॥ ८६ ॥

कोई गोपी उद्धव प्रति कहती है कि कृष्ण के विरह में ब्रज में शोक का जन्म हुआ है। अत यह वर्षा-रूप बधाई हो रही है। बधाई का सामान देखिये—

नदी-नालों का शोर बधाई की झनकार है (जो दूर तक सुनाई पडती है), झिल्ली-गण का बोलना ही झाँझ का शब्द है, बिजली मशाल दिखाती है, दादुर ताल देते हैं, मोर चारोंओर नाच कर रहे हैं, बादल की गरज ही मृदग की मद ध्वनि है, कोयल (रातेनैन) मस्त होकर गान कर रही है।

कवियों की रीझ-बूझ और सूझ ही दूसरी होती है।

ज़रा यह नजारा भी देखिये। विरहिनी और मेघ की बराबरी देखिये—

सवैया।

उत कारी घटा इत हैं अलकैं बकपाँति उतै इत मोती लरी।
उत दामिनि इत चमक इतै सुरचाँप उतै इत भौंह तरी॥

कवि 'सेनापति' वास्तव में कवियों के सेनापति हैं। इनकी सूझ अनोखी ही होती है। देखिये—

कवित्त।

'सेनापति' उनये नये जलद पावस के
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहू भाँति
आने है पहार मानो काजर के ढोय कै॥
घन सों गगन छायो तिमिर सघन भयो
देखि ना परत मानो गयो रबि खोय कै।
चारि मास भरि घोर निसा को भरम करि
मेरे जान याही ते रहत हरि सोय कै॥८७॥

आप कहते हैं कि वर्षा में काले काले बादलों के कारण इतना अँधेरा हो जाता है कि सूर्य मानो गुम हो जाता है, माना कहीं से काजल के पहाड़ लाकर एकत्र कर दिये जाते हैं। इतना सघन अँधेरा रहता है कि नारायण को भी (मनुष्यों की तो गिनती ही क्या) रात्रि का भ्रम हो जाता है और वे चार महीने सोते ही रहते हैं।

आषाढ सुदी ११ से कार्तिक सुदी ११ तक हिन्दू लोग देवताओं का सोना मानते हैं। इसी विचार को पुष्ट करने के लिये 'सेनापति' को यह विलक्षण कल्पना सूझी है।

'ठाकुर' कवि घनघटा को विरहिनियों के लिये यमराज बतलाते हैं—

कवित्त।

कढि दिसि दच्छिन ते घोर घनघटा चढ़ी
बढ़ी बिरही को दुख देन को न कम है।

'ठाकुर' झरोखे ते तनक ताकि तिय कह्यो
　　　तू री ताकि आली या उतग रग तम है ॥
कह्यो वाहि मेघ, सो न मानै, कहै जानै तू न
　　　गरजत आवै या सु जानो जोग हम है।
है न विज्जु होत करवारी दड चमचम
　　　जीव आनै आवत जमात जोरे जम है ॥९१॥

घोर घनघटा दक्षिण से चढ़कर आगे बढी। यह घटा वियोगिनियों को दुख देने के लिये कम नहीं। एक वियोगिनी ने एक झरोखे से झाँककर देखा, तो अपनी सखी से कहा कि तू भी तो देख, यह काला काला क्या है। उसने कहा, यह तो मेघ है। इस बात को उस वियोगिनी ने न माना और कहा कि तू नहीं जानती। यह जो गरजता हुआ आ रहा है इसका योग मैं जानती हूँ। यह बिजली नहीं है, यह उसके हाथ का दड है जो चमचमा रहा है, यह बादल नहीं, यह तो जमात-सहित जमराज है जो मेरा प्राण लेने आ रहा है।

वियोगियों को घनघटा यमराज सी दीखै तो आश्चर्य ही क्या है।

'बीर' कवि पावस को काम की पालकी बताते हैं और उसी पालकी पर चढ़ाकर काम को सयोगियों के यहाँ भेंट करने को भेजते हैं—

घन घटा छतरी पै, पगपाँति झालर है,
　　　इन्द्रधनु बाँस, रग विविध मढ्यौ फिरे।
दामिनी दमक सोई झगा की झमक मानो,
　　　बेलि हरी भूमि वृष तकिया कढ्यौ फिरे ॥

'लाल' कवि जी (सुरति-समय में) प्यारी के मुख पर ही वर्षा का सारा सामान देख रहे हैं। मुलाहज़ा कीजिये—

कवित्त।

पौन सो उसास आँसु बुंद बारिधारा स्वेद
 वकपाँति मोतीलर कारी घटा केस है।
नग पुखराज पन्ना मानिक औ नीलम की
 जगमग जोति जुरी धनुप सुरेस है॥
गरजन आहि कठठुनक मयूरधुनि
 चपला चमक टीका टिकुली सुवेस है।
जानि ना परत मोहिं आज कौन काज 'लाल'
 प्यारीजू के आनन पै बरषा प्रवेस है॥९४॥

प्यारी का ऊर्ध्व श्वास ही झंझा पवन है, आनन्दाश्रु ही वर्षाबुंद है, स्वेद ही झडी है, मोतीलर (माँग की) बक-पंक्ति और केश ही काली घटा है। पुखराज, पन्ना, माणिक और नीलम जडे आभूषण ही (जो सिर, मुख और गले में हैं) इन्द्रधनुप की छटा दिखला रहे हैं, कुछ कष्टसूचक 'आह' शब्द ही गरजन है, कंठ की कूजन (आनन्दसूचक) ही मयूर का शब्द है। टिकुली, टीका इत्यादि की चमक ही बिजली की चमक है। 'लाल' कवि कहते हैं कि मुझे नहीं जान पडता कि आज प्यारी के मुख पर वर्षा का प्रवेश क्यों हुआ है।

'शंकर' कवि सदेहालंकार द्वारा वर्षा को विरहिनी ठहराते हैं—

कवित्त ।

चचला सी चौंकति बहुधा आँसु बरसति
फैले तम केस की न सुधि उर धारी है।
इन्द्रगोप भारी हैं अँगारी विरहागिवारी,
भूषन जराऊ ज्योतिरिंगन बिसारी है॥
'सकर' बखानै ह्वै पपीहा पीउ पीउ रटै,
लाज हंस जामे गति दूर की निहारी है।
सोभा लखि न्यारी मन आपने विचारी, बर-
पा है यह भारी कै वियोगवारी नारी है॥९६॥

यह बिजली की चमक है या वियोगिनी का चौंकना है? यह पानी बरस रहा है या वियोगिनी आँसू बहाती है? यह अँधेरा है या उसके केश बिखरे हैं जिसकी खबर उसे नहीं है? यह बीरबहूटी है या उसने अपनी विरहाग्नि की चिनगारियाँ झाड़ी हैं? ये जुगुनू (ज्योतिरिंगन) हैं या वियोगिनी अपने भूषण भूलकर छोड़ गई है? पपीहा की बोली ही उस वियोगिनी का पी पी रटना है। यह हंसों का दूर चला जाना है (वर्षा में हंस कहीं चले जाते हैं) या उस वियोगिनी की लाज का दूर होना है (वियोगिनी भी विरह में व्याकुल होकर लज्जा त्यागती है)? ऐसी अनोखी छवि देखकर 'शंकर' को सदेह हो रहा है कि यह वर्षा है या कोई वियोगिनी स्त्री है।

'आलम' कवि श्रीकृष्णमूर्ति को ही सदैव-कालीन वर्षाघन के रूप में देखते हैं। बादल तो वर्षा में

अनेक रंगों का इन्द्रधनुष बादलों में ऐसा जान पड़ता है मानो वर्षा का स्वागत करने में देवताओं ने स्वर्ग के दरवाज़े पर नाना रंग के रत्नों की वन्दनीमाल बाँधी हो।

एक कवि इन्द्रधनुष को काम की कमान मानता है और कहता है—

सवैया।

पारथ को धनु घूमि गयौ बरष्यौ घन घोर चहूँ दिसि ते ज्यौं।
लंकपती हूँ उतारि धरी धनु टारि धरौ रघुबीर बली त्यौं॥
एक कहै रस बात नई ये जू सालत प्रान अचंभ एही यौं।
वरी मनोज के हाथ रही बरषा रितु ये री कमान चढ़ी क्यौं॥१००॥

खूब वर्षा होने से अर्जुन का धनुष टेढ़ा हो गया (वर्षा में बाँस की वस्तु टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है), रावण और राम ने भी अपने २ धनुषों की प्रत्यचाएँ उतार कर धनुष रख दिये (वर्षा में संग्राम नहीं होते)। वर्षा में एक यही नई रसीली बात दिखलाई पड़ती है जिससे अचंभा होता है और दुःख भी। वह बात यह है कि काम-शत्रु के हाथ की कमान वर्षा में भी क्यों चढ़ी ही रहती है (क्या इसकी कमानें वर्षा में भी नहीं बिगड़ती?)

चपला-चमक।

अथ चपला-चमक और घन-घोरन पर कवियों की उक्तियाँ सुनिये। एक महाशय कहते हैं—

दोहा।

घरी घुमरि घहरात घन चपला चमक न जान।
काम कुपित कामिनिन पर धरत सान किरपान ॥१०१॥

हे सखी, यह मत समझ कि यह बादल गरज रहा है और चपला चमक रही है। ऐसा नहीं है, वरन कामदेवजी मानिनी नायिकाओं पर कुपित होकर उन्हें मारने के लिये अपनी तलवार पर सान रख रहे हैं। (सान में भी घरघराहट और चमक होती है)।

दूसरा कवि कहता है—

दोहा।

यह चपला चमकति नहीं डारि धनुष अरु बान।
बिरहिन पै अति कोप कर काढी काम कृपान ॥१०२॥

यह बिजली नहीं चमक रही, वरन धनुष-बाण छोड़कर अब काम ने विरहिनियों के मारने के लिये अपनी तलवार निकाली है। यह उसीकी चमक है।

गरज कहाँ हैं या तो घोर फटे थमन की
जुगनू कहाँ हैं ये चिनगें उड़ै सुरमें॥
मेघबुद नाहीं ये बुझावत फिरत देव
तिन ही के छीटा देखु आवत अतुर में॥
'सिंह' कहै दावानल आय कै बुझावै कौन
ए री आग लागी है पुरदर के पुर मे॥ १०५॥

यह श्याम घटा नहीं है, यह तो धुँवा छाया है। यह बिजली नहीं चमकती, यह तो महलों के सबसे ऊपर वाले खड से आग की लपटें निकल रही है। यह बादलों की गरज नहीं, वरन फटते चिटकते हुए खभों का शोर है। ये जुगनू नहीं, चिनगारियाँ हैं। ये मेघबूद नहीं हैं, वरन देवगण आग बुझा रहे हैं, उनके डाले हुए पानी के छींटे हैं जो तेजी से इधर आते हैं। प्रियतम हैं नहीं, अतः अब इस इन्द्रपुर में लगी हुई आग को कौन बुझा सकता है?

बक-पंक्ति।

'केशव' जी पावस की बक-पंक्ति पर उत्प्रेक्षा करते हैं—

सोहैं घन श्यामल घोर घनैं।
मोहै तिन में बकपाँति सनैं॥
शखावलि पी बहुधा जल सो।
मानो तिन को उगिलै बल सो॥ १०६॥

एव काली काली घटा छाई है। उसमें बक-पंक्ति उडती है जो मन को मोहनी है। वह छटा ऐसी जान पडती है मानो मेघ समुद्र से जल पीते समय बहुत से शंख भी पी गये थे, उन्हीं को अब बल-पूर्वक उगल रहे हैं।

क्या कहता है, खूब दूर की सूझी!

हिंडोरा।

हिंडोरे पर एक कवि की उक्ति देखिये—

दोहा।

झूलि झूलि तिय सिखति है नाक चढन की रीति।
आजु कालि मे आइहै सुरनारिन को जीति ॥१०७॥

आप कहते हैं कि नवबालाएँ झूला झूल झूलकर इन्द्रलोक तक चढ़ने की रीति सीखती हैं। बस, अब आज ही कल में (बहुत शीघ्र ही) इन्द्रलोक में जाकर ये सुरबालाओं पर विजय प्राप्त करेंगी।

वाह भाई! क्या दूर की सूझी है। सूझ की पेंग बेशक बहुत ऊँची है। झूला में झूलने का और कारण ही क्या हो सकता है?

देखिये, 'घनश्याम' कवि एक झूलती हुई सुन्दरी का चित्र कैसा खींचते हैं—

कवित्त।

झूलिबे को रस बस नवल हिँडोरे चढ़ी
ता सम न कोऊ सुर किन्नर असुर की।
कहै 'घनस्याम' अभिराम दृग चंचल से
अचल उड़त बरनै को छवि उर की॥
ख्याल के मचत ही चलत कटि बार बार
मानो बिपरीत रति सीखिबे को ढुरकी।
उछरि उछरि चोटी पीठ पै परत मोटी
खोटी के परे ते ज्यों चमोटी कामगुर की॥१०८॥

कोई सुन्दरी आनद और उमग से नवीन हिंडोले पर झूलने को खड़ी हुई। वह ऐसी सुन्दर है कि उसकी समता की सुर, असुर तथा किन्नर-कन्या कोई भी नहीं है। उसके नेत्र चचल हैं (अपने नायक को उत्सुकता-पूर्वक उसके नेत्र इधर-उधर खोज रहे हैं)। झूले की पेंग के कारण हवा के झोंके से उसका अचल उड़ता है और कुच खुल जाते हैं। उनकी छवि का वर्णन कौन कवि कर सकता है। पेंग बढ़ाने में कमर लचकती है, मानो विपरीत रति की रीति सीखने में तत्पर है। ऐसा करने में उछल उछल कर मोटी चोटी पीठ पर पड़ती है, मानो ग़लती करने पर कामगुरु की सॉटी पीठ पर लगती है।

झूलते समय मुखचंद्र और छूटे हुए बालों का सौन्दर्य 'मोहन' कवि से सुनिये—

कवित्त ।

झूलत झकोर दै झलाझल के झूला पर
लागत मनोज बाम तकत तिरीछे तें ।
रूपरस बेली सी नवेली अलबेली बाल
सारी खसि परी सो उड़ात पौन पीछे तें ॥
'मोहन' भनत बार तमतारहू से छूटे
जानि सीस भार नहि बाँधे बिन इंछे तें ।
मनो मकरंद बुंद छाँडत अनंद कंद
चंद जात भागत फनिंद परे पीछे तें ॥ १०९ ॥

कोई सुन्दरी कलाबत्तू की झालरों से सजाये हुए झूले में झूल रही है जिसकी तिरछी नज़र काम-बाण सी लगती है। सिर से साड़ी खिसक गई है, बारीक काले बाल जो इंछकर बँधे हुए नहीं हैं झूले की झकोर में उस चन्द्रमुखी के पीछे इस प्रकार लहराते हैं मानो अमृत-बुंद टपकाता हुआ चन्द्रमा आगे आगे भागा जाता हो और साँप उसके पीछे लगे हों।

कैसी अच्छी उत्प्रेक्षा है!

देखिये, "घनश्याम" कवि एक झूलती हुई सुन्दरी का चित्र कैसा खींचते हैं—

कवित्त।

झूलिबे को रस बस नवल हिँडोरे चढ़ी
ता सम न कोऊ सुर किन्नर असुर की।
कहै 'घनस्याम' अभिराम दृग चंचल से
अचल उड़त बरनै को छबि उर की॥
श्याल के मचत ही चलत कटि बार बार
मानो बिपरीत रति सीखिबे को ढुरकी।
उछरि उछरि चोटी पीठ पैं परत मोटी
चोटी के परे ते ज्यों चमोटी कामगुर की॥१०८॥

कोई सुन्दरी आनंद और उमंग से नवीन हिंडोले पर झूलने को खड़ी हुई। वह ऐसी सुन्दर है कि उसकी समता को सुर, असुर तथा किन्नर-कन्या कोई भी नहीं है। उसके नेत्र चंचल हैं (अपने नायक को उत्सुकता-पूर्वक उसके नेत्र इधर-उधर खोज रहे हैं)। झूले की पेंग के कारण हवा के झोंके से उसका अंचल उड़ता है और कुच खुल जाते हैं। उनकी छवि का वर्णन कौन कवि कर सकता है। पेंग बढ़ाने में कमर लचकती है, मानो विपरीत रति की रीति सीखने में तत्पर है। ऐसा करने में उछल उछल कर मोटी चोटी पीठ पर पड़ती है, मानो गलती करने पर कामगुरु की साँटी पीठ पर लगती है।

झूलते समय मुखचंद्र और छूटे हुए बालों का सौन्दर्य 'मोहन' कवि से सुनिये—

कवित्त ।

झूलत झकोर दै झलाझल के झूला पर
　　लागत मनोज बाम तकत तिरीछे तें ।
रूपरस बेली सी नवेली अलबेली बाल
　　सारी खसि परी सो उड़ात पौन पीछे तें ॥
'मोहन' भनत बार तमतारहू से छूटे
　　आनि सीस भार नहि बाँधे बिन ईंछे तें ।
मनो मकरंद बुंद छाँड़त अनंद कंद
　　चंद जात भागत फनिंद परे पीछे तें ॥ १०९ ॥

कोई सुन्दरी कलाबत्तू की झालरों से सजाये हुए झूले में झूल रही है जिसकी तिरछी नजर काम-बाण सी लगती है। सिर से साड़ी खिसक गई है, बारीक काले बाल जो इंछकर बँधे हुए नहीं हैं झूले की झकोर में उस चंद्रमुखी के पीछे इस प्रकार लहराते हैं मानो अमृत-बुंद टपकाता हुआ चंद्रमा आगे आगे भागा आता हो और साँप उसके पीछे लगे हों'।

कैसी अच्छी उत्प्रेक्षा है !

शरद ।

शरद का रूप देखिए—

कवित्त ।

पावस निकास ताते पायो अवकास भयो
जोन्ह को प्रकास सोभा ससि रमनीय कौ।
बिमल अकास भयो वारिज बिकास 'सेना-
पति' फूले काँस, हितू हंसन के हीय कौ॥
छिति न गरद मानो रँगे हैं हरद सालि
सोहत जरद को मिलावै हरि पीय कौ।
मत्त हैं द्विरद मिट्यो खजन, दरद रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौ ॥ ११० ॥

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति 'सेना-
पति' को सोहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद चाँदनी छिटिकि रही
राम को सो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहु जगत छीरसागर मगन है ॥ १११ ॥

केशवदास जी 'शरद' की समता शारदा से करते हैं। इसका अर्थ श्लेष द्वारा शारदा और शरद दोनों पर लगता है—

कवित्त।

सोभा को सदन ससि बदन मदनकर-
        बंदें नर देव कुवलय बलदाई है।
पावन उदार पद लसत हंसकमार
        दीपति जलजहार दिसि दिसि धाई है॥
तिलक चिलक चारु लोचन कमल रुचि
        चतुर चतुर-मुख जग जिय भाई है।
अमल अयर बीच लीन पीन पयोधर
        'केशोदास' सारदा की सरद सुहाई है॥ ११२॥

शारदा के पक्ष में अर्थ—श्रीशारदाजी का मुख-चन्द्र शोभा का सदन ही है जो लोगों को मतवाला नहीं बनाता (शांति-दायक हैं), जिन्हें नर और देवता दोनों प्रणाम करते हैं, जो (कु+वलय) भूमंडल भर को बल देती हैं। पवित्र और उदार चरणों में नूपुर (हंसकमार) हैं, मोतियों के हारों की छटा दिग्दिगन्तर में फैलती है, तिलक खूब चमकता है, कमल से नेत्र हैं, चतुर ब्रह्मा को और संसार को भाती हैं, निर्मल वस्त्र में जिसके बड़े २ कुच छिपे हुए हैं।

शरद के पक्ष में अर्थ—सुन्दर चन्द्रमा ही जिसका मुख है जो कामोत्पादक है, नर और देवता जिसकी वंदना करते हैं, कमलों को बल देती है (प्रफुल्लित करती है), हंस माला ही जिसके पावन और उदार पद हैं, कमलों की शोभा चारों ओर फैल रही है। प्रत्येक वस्तु में जो एक

'केशव' शरद को एक सुन्दरी बनाते हैं—

मोटनक छंद।

दंतावलि कुन्द समान गनो। चंद्रान न कुन्तल चौर घनो॥
भौहैं धनु खंजन नैन सनो। राजीवनि ज्यों पद पानि भनो
॥ ११५॥

कुंद पुष्प ही उसके दाँत हैं, चन्द्रमा ही मुख है, चँवर ही उसके बाल हैं; धनुष ही उसकी भौंहें हैं (शरद काल में राजागण चमर और धनुष इत्यादि का पूजन करके पुनः काम में लाने लगते हैं), खजन पक्षी ही उसके नेत्र हैं, और कमलों को ही उसके हाथपैर समझ लो,

हारावलि नीरज हीय रमैं। हैं लीन पयोधर अम्बर मैं॥
पाटी जोन्हाइहि अंगधरे। हसी गति केशव चित्त हरे
॥ ११६॥

कुमुद पुष्पों को ही उसके मोतियों के हार जानो और जिसके कुच (पयोधर) वस्त्र से ढके हुए हैं (वर्षा के बादल आकाश में लीन हो गये हैं, आकाश मेघ-रहित है), चाँदनी ही चन्दन का लेप है और हंस ही उसकी चाल है जो चित्त को हरती है।

'केशव' की यह शरद सुन्दरी कैसी अनुपम है!

'बिहारी' ने केशव की उक्ति को इस प्रकार संक्षेप में कहा है—

दोहा।

अरुन सरोरुह कर चरन दृग खंजन मुख चंद।
समय आय सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद॥११७॥

लाल कमल ही उसके हाथ और पैर हैं, खञ्जन ही नेत्र हैं, चन्द्रमा ही मुख है। समय पर (ज़रूरत के वक्त) ऐसी शरद ऋतु-रूपी सुन्दरी किसे आनन्दित नहीं करती ?

केशव की उक्ति में विस्तार का मज़ा है और बिहारी की उक्ति में सन्क्षेप का। 'समय आय' शब्दों में जो गूढ़ व्यंग है उसका मजा साहित्य-मर्मज्ञ रसिक ही जान सकते हैं।

'दास' जी का एक विलक्षण विचार है—

दोहा।

बिरही नर, नारीन को यह-ऋतु घाय-चबाय।
'दास' कहैं याको सरद-याही-अर्थ सुभाय ॥११८॥

बिरही नर-नारियों को यह ऋतु चाव से चबाती है (चबाने का काम होता है दाँतों से और सरद = स + रद = स-दन्त)। दासजी कहते हैं, इसीसे लोग इसे 'सरद' कहते हैं।

नोट—'प्रकृति-पाठ' का 'चन्द्र-वर्णन' इसी ऋतु से संबंध रखता है। उसे भी इसके साथ ही पढ़ डालना चाहिये।

हेमंत।

हेमत का रूप देखिये—

सूर ऐसे सूर को गरूर करो दूर कियो
पावक खेलौना करि दियो है सवन को।
बातन की मार ही तें गात की भुलात सुधि
काँपत जगत जाको भय आन मन को॥
'गिरधरदास' रात लागैं कालरात ही सी
नाहीं सो लगति भूमि राखत चरन को।
आयो है हिमंत तेजवंत भूमिकंत दीह
दतन पिसावत दिगंत के नरन को ॥११९॥

आयो है हिमंत जोर जाड़े के प्रसंग सों
ऊन के भँगूलन में अंगन दुराये देत।
कहै 'नदराम' त्यों हमाम तें न काम सरै
धाम धाम आला पौन पाला को उसाये देत॥
तूल पीठ पेटन अँगीठिन में दीठि लगी
तरुनी बिहीन तन कंप सरसाये देत।
दो गुनो कही सो चित चौगुनो चुराये लेत
नौगुनो न सौगुनो समीर सीत नाये देत ॥१२०॥

विशेष उक्तियाँ आगे देखिये।

जाड़े के दिनों में अग्नि के अंगारों पर राख जल्द चढ़ती है, जिससे बार बार अग्नि को रासौना पड़ता है इसपर कवि कहता है कि—

दोहा ।

छार अँगार न परत है मनु तजि बैर समूल ।
माह सीत की भीत सो दहनौ ओढ़े तूल ॥ १२१ ॥

यह जो अंगार के ऊपर राख चढ़ती है इसे राख चढ़ना न समझो मेरी समझ में तो ऐसा आता है कि मानो माघ मास में सरदी के डर से बैर छोड़कर अग्निदेव भी रुई के गाले ओढ़ते हैं। क्या खूब !

कैसी गजब की सरदी है। देखिये—

दोहा ।

अगिन दिसा दिनपति दुर्यो दिनहु भयो अति खीन ।
अगिन दुरत नर गोद महँ नर गति कह पुनि दीन ॥ १२२ ॥

जाड़े के डर के मारे सूर्य देवता भी अग्नि दिशा (आग्नेय कोण) में छिपते हैं, दिन भी मारे जाड़े के सिकुड़ जाता है, अग्नि मनुष्यों की गोद में छिपता फिरता है, तो दीन मनुष्यों की क्या गति होगी सो अनुमान कर लीजिये।

जाड़े में जलाशयों पर या सर्वत्र कुछ धुआँ सा देख पड़ता है। इसपर कवि कहता है—

दोहा ।

हेम सीत के डरन ते सकत न ऊपर जाय ।
रह्यो अगिनि को पाय कै धम भूमि पै छाय ॥ १२३

हेमन्त में सरदी से डर से धुवाँ ऊपर नहीं जा सकता; अत. अग्नि के निकट ही जमीन ही पर छाया रहता है, अर्थात् वह भी सरदी के डर से अग्नि से दूर नहीं जाता।

'सेनापति' की बात सुनिये। साधारण बात को भी आप कैसे अच्छे ढग से कहते हैं—

कवित्त।

सीत को प्रबल 'सेनापति' कोपि चढो दल
अनल निबल गयो सूर सियराय कै।
हिम को समीर सोई बरषै विषम तीर
रही है गरम भौन कोनहि में जाय कै॥
धूम नैन लागे लोग होत है अचेत तऊ
हिय सों लगाय रहैं नेक सुलगाय कै।
मानो भीत जानि महा सीत तें पसारि पानि
छतिया की छाँह राखै पावक छिपाय कै॥ १२४॥

जाडे के प्रकोप से अग्नि निर्बल हो गई, सूर्य भी ठढे हो गये। सर्द हवा तीर सी लगती है, गरमी केवल मकानों के कोनों में जा छिपी है (वास्तव में मकान के भीतरी कोने कुछ गरम रहते हैं)। धुएँ से नेत्रों को कष्ट होता है, तो भी लोग आग सुलगाकर छाती से लगाये रहते हैं, मानो सरदी से डरी हुई अग्नि को हाथ फैलाकर लोग अपनी छाती में छिपा लेते हैं (जैसे डरे हुए बच्चे को माताएँ हृदय के निकट अचल में छिपा लेती है)।

आग भी सरदी से डरती है और लोग उसे छाती में छिपाते हैं। बलिहारी इस सूझ की।

जाड़े में सूर्य 'धनराशि' में होता है। 'धन' शब्द का दूसरा अर्थ है 'स्त्री'। धनराशि = स्त्री समूह। *शब्द के इसी रल पर 'सेनापति' का कमाल देखिये—*

कवित्त।

बरस तुसार बहै सीतल बयार नाथ
कपमान उर क्यों हूँ धीर न धरत है।
राति ना सिराति सरसाति बिथा बिरह की
मदन अराति जोर जोबन करत है॥
'सेनापति' स्याम हम धन हैं तिहारी हमैं
मिलो बिन मिले सीत पार ना परत है।
और की कहा है सविता हू सीत रितु जानि
सीत को सतायो धन रासि में परत है॥ १२५॥

कोई वियोगिनी अपने पति को चिट्ठी लिखती है—हे नाथ, तुषार पड़ रहा है, सर्द हवा से काँपता हुआ हृदय अधीर हो रहा है, रात नहीं कटती, विरह बढ़ता है, काम शत्रुता करता है, यौवन भी अपना जोर लगाता है। हे श्याम! मैं आपकी स्त्री (धन) हूँ, अत आकर मुझसे मिलिये, बिना मिले जाड़ा कटेगा नहीं। देखिये, औरों की तो बात ही क्या, प्रचड उष्णता के भाडार सूर्यदेव भी इस हेमत ऋतु में जाड़े के डर से धनराशि में पड़ता है (स्त्रियों के समूह में सोता है)। विरह तो है ही, पर नि स्वार्थ प्रदर्शन, पति पर स्नेहाधिक्य,

और बुलाने के कारण की पुष्टि को बड़े २ बैरिस्टर भी मानने को मजबूर होंगे। उक्ति में युक्ति का अपूर्व संयोग है।

'सेनापति' जी पुन कहते हैं—

कवित्त ।

आयो सखी पूसौ भूलि कंत सो न रूसौ केलि
हौं सो मन सूनौ जीव ज्यौं सुख लहतु है।
दिन की छोटाई रजनी की बड़ुलाई सीत-
ताई हू को, 'सेनापति' बरनि कहतु है॥
याही ते निदान प्रात वेगि ना उठत भानु,
द्रौपदी के चीर कैसो राति को महतु है,
मेरे जान सूरज पताल ते पताले माँझ
सीत का सतायो कटलाय कै रहतु है॥१२६॥

दिन की छोटाई, रात्रि की बड़ाई और सरदी की अधिकता पर कवि का विचार यह है कि सरदी के मारे ही सूर्य अपनी शय्या से जल्दी उठने का साहस नहीं करता, रात्रि द्रौपदी के चीर की तरह अनन्त हो गई है, दिन सरदी से सिकुड़ गया है, और अधिक शीत के कारण सूर्य काहिल होकर पाताल ही में रहते हैं, ऊपर आते ही नहीं। अत दिन मानो नहीं के बराबर है।

संसार में गर्मी कहीं रह गई; है या नहीं, इस पर 'सेनापति' का विचार सुनिये—

कवित्त ।

सूर तजि भाजी बात कातिक मे सुनी जब
हिम की हिमाचल से चमू उतरति है।

ाये अगहन कीन्हो गहन दहन हू को
तिनहू ते चली कहूँ धीर ना धरति है॥
हिम मैं परी है हूल दौरि गहि तजी तूल
अब निज मूल 'सेनापति' सुमिरति है।
स मे तिया के उच्च कुच कनकाचल मे
गढवै गरम भई सीत सो लरति है॥ १२७॥

गर्मी ने जब कातिक में यह बात सुनी कि हेमाचल से बर्फ की सेना उतरेगी, तब वह डरकर सूर्य को छोड़कर भागी (सूर्य भी मन्द हो गया), अगहन में किसी प्रकार अग्नि (दहन) की शरण में रही, तदन्तर वहाँ से भी चली। जब चारों ओर हिम की हूल पड़ी तब वहाँ से भी भागकर रुई में आ रही, वहाँ भी जब न रह सकी तब निज मूलस्थान (सुमेरु पर्वत) का स्मरण करके वहाँ का चली। वहाँ पहुँच न सकी तो अब पूस में स्त्रियों के उच्च कुचों को ही कनकाचल समझ कर वहीं आ रही है और वहीं गढ बनाकर शीत से युद्ध कर रही है (तिय-कुच में ही गर्मी रह गई है, अन्यत्र कहीं नहीं)। एक अन्य कवि का भी प्रमाण है—

दोहा।

नारिपटउहाँ कूपजल अरु बरगद की छायँ।
गरमी मे सरदी करै सरदी में गरमायँ॥

'मणिदेव' का मजाक भी देखने-योग्य है—

कवित्त।

नर कहा नारी कहा पसु कहा पच्छी मन
काहू के न होत घर छोडि निकरन की।

अंगन अँगोछि करैं जप तप होम दान
जात ना कहीं है कछू करनी करन की॥
कहै 'मनिदेव' जुगुनू लौं कढि जात आसु
चरचा न होत कहूँ भानु के करन की।
घरी घरी बोलैं जन, घरी जो न होती कहूँ
घरी लौं न होती सध्या-बदन करन की॥१२८॥

नर-नारी, पशु-पक्षी इत्यादि में से किसी को घर से बाहर निकलने की इच्छा नहीं होती। जप-तप, होम-दान करनेवाले सरदी के डर से स्नान नहीं कर सकते, केवल शरीर को अँगोछकर किसी तरह नियम निर्वाह करते हैं, तो भला अन्य कर्मों के करने के विषय में क्या कहें। सूर्य भी जुगुनू की तरह चमक कर निकल जाता है। सूर्य-किरण का कहीं जिक्र तक नहीं। सध्योपासक लोग (सरदी से डरकर) हर घडी कहते हैं कि यदि घडी न होती तो अच्छा होता। घडी से सध्या का समय न ज्ञात होता तो सध्या करने ही से बच जाते। घडी समय बतला देती है, अत सध्या करना ही पडती है।

शिशिर ।

शिशिर का रूप देखिये—

कवित्त ।

सीसा के महल बीच कहल हिमाचल की
पहल दुलाई बर्फ चहल कसाना में।
चदन सो लागत कुरङ्गसार अगन मे
अनल अँगीठी जिमि बारि होजसाला मे ॥
लागत गलीचा ऊन सीतल सिवार तूल
दीपक न छत्र 'रघुनाथ' रविशाला में।
बाला उर बीच आतिमाला सी जुडात जात
पाला सम लागत दुशाला सीसकाला मे ॥१२९॥

घद छवि पागि आगि ओर चले भानु भागि
सीत जागि जागि जग ऐसे गरसत है।
रदन सो बोलै रद बदन बिकासै कौन
नदन को गौन रौन सूधो सरसत है॥
लागौं गज झाँपै मचै मार की झरापै तज
'सेवकजू' झाँपै न दुरान दरसत है।
कूबर साला फोरि सालहू दुसाला फोरि
मफरा मसाला फोरि पाला बरसत है॥१३०॥

विशेष उक्तियाँ आगे देखिये—

नोट—साधारणतः हेमन्त और शिशिर का भेद हम लोगों को ज्ञात नहीं पड़ता। पर कवियों के वर्णनों पर सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि जब तक सूर्य धनु राशि के १५ अंश तक रहता है तब तक हेमन्त और तदनन्तर शिशिर है। हेमन्त में दिन की छोटाई तथा सूर्य का अग्नि कोण में जाना वायु में अधिक सरदी का होना माना जाता है। शिशिर में दिन की छोटाई, वर्फ का गिरना, और हाथपैर ठिठुरा देने वाली सरदी का वर्णन होता है, जो प्रायः आजकल मकर सक्रान्ति के आगे पीछे देखा जाता है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। हमारे हिन्दी कवियों ने ऋतुओं का वर्णन इस प्रकार किया है जैसे वे काश्मीर में बैठे हों। सरसों और पलास का फूलना वसन्त में (चैत्र वैशाख तक) काश्मीर ही में सम्भव है। अन्य प्रान्तों में तो सरसों हेमन्त ही में फूल चुकती है। पलास भी अन्य प्रान्तों में चैत्र वैशाख से पहले ही फूल चुकता है। पर कवि लोग अभी तक उसी पुरानी लीक पर चले जाते हैं। सम्भव है, हमारा अनुभव गलत हो। पाठक स्वयं इन बातों का अनुभव करें तो अच्छा हो। षट् ऋतु के वर्णन में 'सेनापति' कवि हमें सर्वश्रेष्ठ जँचते हैं, पर खेद यह है कि इनके ग्रंथ अबतक अप्रकाशित ही पड़े हैं।

'सेनापति' जी कहते हैं—

कवित्त।

सिसिर तुषार के बखार से उखारत है
पूस बीते होत सुन हाथ पावँ ठरि कैं।
द्यौस की छोटाई की बड़ाई बरनी न जाय
'सेनापति' गाई कछु सोचि कै सुमिरि कै॥

सीत ते सहसकर सहस चरन ह्वै कै
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलों कोक कोकी कों मिलत तौलों होत रात
कोक अधबीचहि तें आवत है फिरि कै ॥ १३१ ॥

शिशिर ऋतु आते ही तुषार के खज़ाने से खोल देती है, पूस मास बीतने पर यह आती है और इतनी सरदी फैलाती है कि हाथपैर ठिठुरकर निर्जीव से हो जाते हैं। दिन की लघुता की महिमा तो कही ही नहीं जा सकती, पर 'सेनापति' बहुत सोच-विचारकर कुछ कहने का साहस करता है। सरदी के मारे सहसकर (सूर्य) सहस चरण होकर भागता है और रात्रि हो जाती है। दिन इतनी थोड़ी देर रहता है कि (रात्रि का वियोगी) कोक अपने स्थान से चलकर कोकी के निकट तक नहीं पहुँच पाता है कि बस रात्रि हो जाती है और वह बेचारा बीच ही से वियोग की रात्रि बिताने के लिए लौट पड़ता है।

दिन की छोटाई का वर्णन करने में कमाल किया है।

शिशिर में सूर्य की क्या होती है यह भी सुनिये—

कवित्त।

सिसिर मे ससि को सरूप पावै सविताऊ
घाम हू में चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति सीतलता होति है सहसगुनी
रजनी की झाईं दिन हू में झमकति है॥
चाहत चकोर सूर ओर दृग जोरि करि
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।

मूत्रत्याग के लिए उठकर बाहर जाना लङ्का की सी चढ़ाई मालूम होती है (जाड़े में चौथे पहर में मूत्र त्याग करने की आवश्यकता भी जान पड़ती है)।

शिशिर की इस भयङ्कर शीत से बचने के लिए 'पद्माकर' जी का बताया हुआ नुसखा भी लगे हाथों सुन लीजिये—

कवित्त

गुलगुली गिलमै गलीचा है गुनीजन है
चाँदनी है चिकै है चिरागन की माला है।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा है सजी
सेज है सुराही है सुरा है और प्याला हैं॥
सिसिर के सीत को न व्यापत कसाला तिन्हैं
जिनके अधीन एते उदित मसाला है।
तान तुक ताला है विनोद के रिशाला है सु-
बाला है दुसाला है बिसाला चित्रसाला है ॥१२५॥

अर्थ कठिन नहीं, पर सामान अच्छा है।

'ग्वाल' कवि भी पद्माकर से सहमत जान पड़ते हैं। आप कहते हैं—

कवित्त

सोने की अँगीठिन मे अगिन अधूम होय
होय धूमधार हू तो मृगमद आला की।
पौन को न गौन होय भरयो सुभौन होय
मेघन के सौन होयँ उड़ियाँ मसाला की॥

'ग्वाल' कवि कहै दूर परी सी तुरगवारी
नाचती उमग सों तरग तान ताला की।
बाला की वहार औ दुशाला की वहार आई
पाला की वहार में वहार वड़ी प्याला की ॥ १३६ ॥

अर्थ सरल है। मृगमद=कस्तूरी। खौन=थाल (फारसी 'ख्वान')।

परन्तु जो दीन लोग हैं वे इस भयङ्कर सरदी से कैसे वचेंगे। जिनके पास मे सामान न हो वे 'दीन' कवि के नुसखे पर ही गुजर करें।

'दीन' कवि का नुसखा यह है—

सवैया।

नाक लवग इलायची नैन लसै अधरा जयपत्र रसाला।
दार चिनी सम बोलत बैन भली हरदी लगी केसर भाला॥
ठोढीको विंदु कपोलन के तिल मिर्च सियाह सवादमे आला।
गरममसालामयी धनिया लहि'दीन' गनै नहिँ सीत कसाला॥ १३७ ॥

जिसकी नाक ही लवङ्ग है, नेत्र ही लाची है, अधर ही रसीली जावित्री है, जो दार (स्त्री) चीनी सम मधुर बैन बोलती हो (दारचिनी भी एक मसाला है), जिसके मस्तक पर लगी हुई केसर ही हल्दी है, चिवुक का विन्दु और कपोल पर का तिल ही काली मिर्च है, ऐसी गर्म मसालामय धनिया (स्त्री) पाकर 'दीन' लोग भी जाड़े का कष्ट काट सकते हैं।

शृङ्गार-घाट ।

संसार में कवि 'दीन' जो सिंगार न होता ।
कवियों की सुमति का कोई आधार न होता ॥

—भगवानदीन ।

(१) अंजन (काजल) ।

आँखों में काजल लगा हुआ है। इसपर एक कवि कहता है—

दोहा।

अजन होइ न लसत तो ढिग इन नैन बिसाल।
पहिराई जनु मदन गुरु स्याम बदनीमाल ॥ १ ॥

तेरे इन विशाल नेत्रों में यह अञ्जन नहीं लगा हुआ है। मेरी समझ में तो यह आता है कि काम-गुरु ने अपने चेलों (नेत्रों) को काला गण्डा पहनाया है (जिससे इनको किसीकी नजर न लगे)।

'रसनिधि' जी इसी घटना को दूसरी दृष्टि से देखते हैं—

दोहा।

दीन हीनने हीन को रौदि न करैं अचैन।
अजन आँदू भरि दिये दृग-गज माते मैन ॥ २ ॥

कहीं दीन-हीन प्रेमियों को रौंदकर कष्ट न दें ऐसा विचारकर काम ने नेत्ररूपी मस्त हाथियों के पैरों में भारी आँदू (काठ के पैंकरे जिनमें लोहे की कीलें होती हैं) डाल दिये हैं।

'रसनिधि' जी पुनः कहते हैं—

दोहा।

यौं छवि पावत हैं लखौ अंजन आँजे नैन।
सरस धाढ़ सैफन धरी जनु सिकलीगर मैन ॥ ३ ॥

अञ्जन लगे हुए नेत्र ऐसे जान पड़ते हैं मानो काम-सिकलीगर ने सैफों (एक प्रकार की तलवार) में तेज धाढ़ रख दी हो।

'बलभद्र' कवि नेत्रों के वर्णन में अन्यान्य उत्प्रेक्षाओं के साथ कज्जल लगे हुए नेत्रों के विषय में कहते हैं—

कवित्त।

कंचन के फंद परे खजन ललकैं कैधौं
बाँधे युग मीन नागफाँस सो मदन हैं।
काम के कसारन के फूलन की कूपिका कि
आयुध तिलक के सिंगार के सदन हैं॥
धिसिस पुलिंद मैन नाँचे हैं प्रदीपन सो
'बलभद्र' मुनिन के मन के कदन हैं।
कज्जल की रेख अवरेख लोचनन मानो
कीन्हें चितचोरन के सेचक बदन हैं ॥ ४ ॥

नेत्रों में कज्जल लगा देखकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि नेत्रों को चितचोर समझकर, चोरी की सजा देने के लिए, उनके मुख पर कालिमा लगा दी गई है।

'आलम' कवि एक विचित्र घटना का वर्णन करते हैं—

सवैया।

गुनरूपनिधान विचित्र वधू छिन प्यारी प्रिया मधुगञ्जन की।
कवि 'आलम' पूरनकाम समीप सुदेह दिपै दुति नजन की॥
कर पल्लव ग्नजन सौं दृग कोरनि रेख रचै पति अजन की।
लिखनी दल मजुल कज की मैन लै घधु सँवारत खजन की
॥ ५ ॥

केलि-कला-चतुर-चूडामणि श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा राधिका के नेत्रों में काजल देते हैं। यह घटना 'आलम' को कैसी दीख पड़ी मानो कामदेव कमल-दल की लेखनी से (किसी चित्र में) खञ्जन की चोंच बना रहा है।

शाबाश आलम, शाबाश तुम्हारी दृष्टि को! सौन्दर्य का चित्र ही खींच डाला।

एक दूसरा कवि भी 'आलम' के निकट तक पहुँचा है। वह कहता है—

सवैया।

प्रानपियारी सिंगार सँवारि लिये कर आरसी रूप निहारै।
चद्र से आनन की दुति देखत पूरि रह्यो उर आनँद भारै॥
अजन लै नख सो रमणी दृग आँजति यो उपमान विचारै।
सीर कै चोंच चकोरन की मनो चोप तें चन्द चुगावत चारै
॥ ६ ॥

कोई रमणी स्वय अपने हाथ से अपने नेत्र आँज रही है। यह घटना कविजी को ऐसी जँचती है मानो चन्द्रमा अपने प्रेमी चकोरों को शोक से चारा चुगा रहा है।

कज्जल दृष्टि को साफ करता है, पर यहाँ तो कज्जल की कालिमा ने कवियों की दृष्टि को धुंधला कर डाला और शृङ्गार की भूलभुलैयों में डालकर वैसा ही भटकाया जैसा निरञ्जनदेव (श्रीकृष्ण) गोपियों को भटकवन में भटकाया करते थे।

(२) अधर।

'दास' जी की तान सुनिये—

दोहा।

बन्धुजीव को दुखद है अरुन अधर तुव बाल।
'दास' देत यह क्यो डरै पर जीवन दुख जाल॥ ७॥

हे बाला, जब तेरा अधर अपनी लालिमा से बन्धुजीव (दोपहरिया पुष्प, और बन्धुगण) को दुःख देता है, तो औरों को दुःख देते यह क्यों डरेगा।

यह उक्ति हुई अधर-अरुणिमा पर, अब अधर-मधुरिमा पर सुनिये—

एक उर्दू कवि कहता है—

पानी भर आये मिस्रियों के मुहँ में वक्त दीद।
शीरीं की लार टपके अगर देख पाये ओठ॥ ८॥

यदि तेरे ओठ देख लें तो मिस्रियों (मिश्रदेश-निवासी) के मुँह में पानी भर आये और शीरीं (फरहाद

'मिश्री' और 'शीरीं' शब्दों का प्रयोग गजब ढा रहा है।

अब हमारे हिन्दी कवियों की उडान देखिये—

'रसलीन' कवि कहते हैं—

दोहा।

लिखन चहत 'रसलीन' जब तुव अधरन की बात।
लेखनि की बिबि जीह बँधि मधुराई ते जात ॥ ९ ॥

हे बाला! जब मेरी लेखनी तेरे अधर की मधुरिमा की बात (प्रशंसा) लिखना चाहती है तब उसकी दोनों जबानें परस्पर सट जाती हैं और वह कुछ (कह नहीं सकतीं) लिख नहीं सकती।

गजब की ऊँची उडान है, अत्युक्ति की पराकाष्ठा है। 'मिश्री' और 'शीरीं' चैतन्य जीव हैं, वे ललचायें तो आश्चर्य नहीं, यहाँ तो जड लेखनी पर प्रभाव पड रहा है। यह अधर-मधुरिमा है कि जादू?

एक कवि 'रसलीन' से आगे बढ़ जाता है। वह कहता है—

दोहा।

बधू अधर की मधुरता बरनत मधु न तुलाय।
लिखत लिखक के हाथ की किलक ऊख ह्वै जाय ॥१०॥

इस नव वधू की अधर-मधुरता के वर्णन में शहद तो बराबरी कर ही नहीं सकती। कहाँ तक कहूँ, मधुरिमा का वर्णन लिखते समय लेखक की किलक की लेखनी ऊख हो

जाती है। कितनी ऊँची उड़ान है! जब लेखनी का यह हाल है, तब लेखक तो शक्कर का बोरा ही हो जाता होगा। और, और सुनिये—

दोहा।

अधर परसि मीठी भई दई हाथ तें डारि।
लावति दतुवन जख की नोखी खिजमतिगार ॥११॥

एक दासी ने नायिका को नीम की दतून दी। ओठ से लगाते ही वह मीठी हो गई। उसे फेंककर नायिका दासी से खीझकर कहती है कि 'कैसी गुस्ताख दासी है, मज़ाक के लिए मुझे ऊख की दतून देती है।'

अज्ञात-यौवना नायिका है, अधर-मधुरिमा की पराकाष्ठा है। नीम को मीठा कर देना सृष्टि को उलट-पुलट कर देना ही है।

'दास' जी अधर-अरुणिमा पर अनोखी उक्ति कहते हैं—

कवित्त।

एरी पिकबैनी 'दास' पटतर हेरैं जब
जब तेरे सुन्दर अधर मधुरारे को।
दाख दुरि जात मिसिरीयो मुरि जात कैसे
कंद कुरि जात सुधा सटक्यो सकारे को॥
[illegible] ललाई ते समान अनुमाने रंग
बिम्बाफल बंधुजीव विद्रुम विचारे को।
ताते इन तासनि सों पटतरो करन कहे
मुख मूँदि मूँदि जात बरननवारे को ॥१२॥

हे पिकबैनो, जब जब मैं तेरे अधर की मधुरता की पटतर (उपमा) ढूंढता हूँ तब तब दाख छिप रहती है, मिसरी सामने से हट जाती है, कन्द कुढ जाती है और अमृत भाग जाता है, अर्थात् तुल्य नहीं जँचते। और, यदि सुन्दर लालिमा की समता के लिये अनुमान से बिंबाफल, बन्धुजीव और विद्रुम के नाम लेने का विचार किया जाता है तो नाम लेनेवाले का मुख प्रथम वर्ण के उच्चारण करते ही मुँद मुँद जाता है, अर्थात् प्रकृति मना करती है कि इनके नाम न लो।

इस उक्ति से दासजी का मुशीपन टपकता है। 'ब' अक्षर ओष्ठ्य है। बिंबा, बन्धुजीव, विद्रुम का उच्चारण करते ही ओठ सटते हैं। यही मुख का मुँद मुँद जाना है।

(३) कटाक्ष ।

एक कवि कटाक्ष की तेजी यों बयान करता है—

दोहा।

कहा करों जो आँगुरिन अनी घनी चुभि जाय।
अनियारे चख लखि सखी काजर देत डराय ॥ १३ ॥

कोई सखी नायक प्रति कहती है कि हमारी सखी अपने अनियारे नख देखकर काजल लगाते डरती है कि अँगुलियों में नेत्र की घनी चुभ जायगी तो क्या करूँगी।

सरस्वती, प्रतिपद के दिन जैसे चन्द्रकला का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है, प्रत्यक्ष कोई भी देख नहीं सकता—बुद्धिमान् लोग जैसे अनुमान से ब्रह्म का अस्तित्व मानते हैं, बस वैसे ही कमर भी है।

कमर का नाम 'कटि' क्यों पड़ा, इसपर 'रसनिधि' जी कहते हैं—

दोहा।

नेही मन कटि जात लखि प्रीतम कटि अभिराम।
करि करि ऐसो काट यह पायो है कटि नाम ॥२१॥

नेही जनों के 'मन' जिसे देखकर कट कट जाते हैं ('मन' बहुत ही सूक्ष्म पदार्थ है) ऐसा काट करने से ही 'कटि' नाम पड़ा है।

'जायसी' महाशय कमर के संबंध में एक विलक्षण ही बात कहते हैं। सुनिये—

दोहा।

सिंह न जीता लंक सरि हारि लीन्ह बनबासु।
तेहि रिस रकत पियत फिरै खाइ मारि कै मासु ॥२२॥

जब कमर के मुकाबले में सिंह बाजी हार गया, तब भागकर वनवास लिया, उसी रिस से आजतक वह मनुष्यों की हिंसा किया करता है।

गजब रे गजब! इस कमर ने तो संसार में बड़ी हत्या कराई। क्या इस कमर पर किसी साहित्य-'जज' की कोर्ट में अमन और आर्डर के लिहाज से मुकदमा नहीं चलाया जा सकता? किसी साहित्य-'सपरू' से सलाह लेनी चाहिये।

कमर की नजाकत पर 'दास' जी की नाज़ुक-ख़याली पर गौर कीजिये । आप अपने 'मन' से कहते हैं—

कवित्त ।

सिंहिनी औ मृगिनी की तो ढिग जिकिर कहा
बारह मुरारि हू तें खीनी चित्त धरि तू ।
दूर ही तें नैसुक नजर भार पावत हीं
लचकि लचकि जात जौ में ज्ञान करि तू ॥
तेरो परिमान परमान के प्रमान है पै
'दास' कहै गरुआई आपनी सँभरि तू ।
तू तो मनु है रे वह निपट ही तनु है रे
लंक पर दौरत कलंक सो तौ डरि तू ॥२३॥

तेरे मुकाबल में सिंहिनी और मृगी का तो कोई जिक्र ही नहीं हो सकता । वह कमर बाल से तथा मृणाल-तंतु से भी बारीक है । दूर से ही नजर का बोझ पड़ने पर भी लचक जाती है । हे मन, यद्यपि तेरा बोझ एक रेणुकण के बराबर ही है, पर तू अपने नाम का बोझ तो ख़याल कर (मन ४० सेर का भी होता है) । तू मन है, वह कमर अत्यन्त बारीक और कमजोर है । तू उस कमर पर दौड़ने से बाज आ, नहीं तो तुझे कलंक लग जायगा । क्या बारीकी है ! नजर के बोझ से लचकती है और 'मन' के बोझ से तो उसके टूट जाने का खौफ है !! यह 'दास' जी का कमाल है ।

(५) किंकिणी।

किंकिणी की रुनझुन पर एक कवि की उक्ति सुनिये—

दोहा।

रुनित किंकिनी है न री नजर सु आवै हाल।
मनसिज घरियारी अरी गजर बजावै बाल॥ २४॥

कोई सखी नायिका प्रति कहती है—हे सखी! यह किंकिणी का शब्द नहीं है, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि कामदेव-रूपी घरियारी (घंटा बजानेवाला टाइम-कीपर) किसी विशेष कार्य का समय जानकर किसी को कुछ सूचना देने के लिये गजर बजा रहा है।

(६) कुच।

आजकल बहुतेरे लोग 'कटि' या 'कुच' का नाम सुनते ही 'अश्लील अश्लील' की झड़ी लगा देते हैं। पर हमारे आचार्यों ने ऐसा नहीं माना। उन्हीं के अनुयायी होने के कारण हम भी कटि, कुच इत्यादि के वर्णन को अश्लील नहीं समझते।

क्या हमारे आचार्य लोग निर्लज्ज वा अश्लीलता-प्रिय थे? कदापि नहीं। 'अश्लीलता' हमारे यहाँ एक

-काव्य-दोष माना गया है। तब प्राचीन और अर्वाचीन लोगों में मतभेद के कारण हमारी समझ से यों हैं—

(१) अगले कवि स्वच्छ, सरस और सरल हृदय होते थे, आज के सभ्यताभिमानी लोग कलुषित हृदय, अरसिक, और बनावटी सुशील होते हैं।

(२) विना कवि-कुच के, शृंगार में सरसता नहीं आ सकती। शायद अश्लीलता-वादी सज्जनों को कुचहीन या पतित-यौवना नायिका ही पसंद हो।

(३) मानव-संसार के पालन-पोषण-कारी विष्णु-स्वरूप कुच का वर्णन कैसे छोड़ा जा सकता है? अगले आचार्य कुच-रस पीकर बड़े हुये थे। आज के अश्लीलता-वादी लोग धाक फाँककर बड़े हुए हैं, इसीसे शुष्क-हृदय होने के कारण कुच-वर्णन उन्हें अश्लील जँचता है।

(४) शृंगार रस के स्थायी भाव के उद्दीपक स्त्री-शरीर में कुच ही हैं। शृंगार रस-मर्मज्ञ कवि इनका वर्णन छोड़ ही नहीं सकता। स्त्री-प्रकृति का वर्णन बिना कुच-वर्णन के पूर्ण हो ही नहीं सकता। कुच-वर्णन-रहित शृंगार रस का सारा वर्णन वैसा ही नीरस और अस्वादु होगा जैसे अलोना भोजन।

(५) कवि संसार की सब ही वस्तुओं के वर्णन का अधिकारी है। कुच भी एक संसारी वस्तु उसका वर्णन　　लिखे तो कौन सा पाप है

(६) अँगरेजी-शिक्षित महाशय जरा यह तो बतलावें कि मिल्टन ने "पैराडाइज लॉस्ट" में बीबी हौवा के नगे बदन का जो वर्णन किया है, या "ब्राइड्स कन्फैशन ऑव् दी फर्स्ट नाइट" में जैसा वर्णन है क्या हिन्दी कवियों का कुच-वर्णन उससे भी अधिक अश्लील है ?

(७) क्या वैद्यक शास्त्र में स्त्री-शरीर का विश्लेषण करते समय कटि-कुच का वर्णन अश्लील समझकर छोड देना उचित होगा ? यदि नहीं, तो फिर स्त्री-शरीर का शृ गार-विश्लेषण करते समय कवि क्यों इस मुख्य अग का वर्णन छोड दे ? अश्लीलता-वादी चाहे कुछ भी कहें, कवि अपनी अयोग्यता या अमर्मज्ञता का प्रदर्शन कैसे सह सकता है ।

कुच क्यों करेरे होते हैं, इसका कारण 'गोकुल' जी यों बतलाते हैं—

कवित्त ।

गरजत घन तरजलि बिज्जु बार बार
कूकत हैं मोर पिक पपिहा गरेरे हैं।
चकमत जुगनू तिमिर जमकत जात
बात सियरात लगैं गात हहरेरे हैं॥
'गोकुल' न ऐसे समै पी को कलपैयैं कल
पैयै बलि जैयै कहा त्योरन तरेरे हैं।
एतक कठोर होत उर तरुनीन को री
याही ते उरोज होत कठिन करेरे हैं ॥ २५ ॥

पावस ऋतु में सारे उद्दीपक सामान मौजूद हैं। ऐसे समय कोई मानिनी स्त्री नायक से रूठ गई है। इस पर कोई सखी उपालम्भ देते हुए मान-मोचन की चेष्टा कर रही है और कहती है कि तरुणी-गण का उर इतना कठोर होता है, इसीसे उरोज (उर से उत्पन्न होने से) अति कठिन और करेरे होते हैं।

विशेषोक्ति और द्वितीयसम अलकार की अच्छी अनोखी छटा है।

गोकुलनाथ जी की दूसरी उक्ति सुनिये—

सवैया।

चौसर चन्दन सो चुपरे सुचि कंचन की रुचि सो भरि भावैं।
उन्नत पीन कठोर महा मकरध्वज के करि कुंभ लजावैं॥
'गोकुल' कंचुकी बीच दुरे दुरि देखत ही कुल कानि दुरावैं।
लागत ही पिय के उर सो उर ओज भरैं ते उरोज कहावैं
॥ २६ ॥

'उर में ओज भर दें' वे ही उरोज 'उरोज' नाम पा सकते हैं, अन्य नहीं। निरुक्ति अलकार से कैसा अच्छा काम लिया गया है!

'शम्भु' कवि की सूझ सुनिये। आप कहते हैं—

सवैया।

लाडली के कुच हेरत ही सिर नाय सरोज लजाय खिसूरत।
दाडिम को हियरो कटि जात जबै कहुँ कंचुकी ओर को घूरत॥

'सभु' सतावत हैं जग को है कठोर महा सबको मद तूरत।
कूह कै कै कर मारैं मही लखि कुम्भन वारन छारन पूरत ॥२७॥

उस लाडली के कुचों को देखकर ही कमल-कली लज्जा से सिर नीचे किये रहती है, और उसकी कंचुकी की ओर देखतेही अनार का हृदय विदीर्ण हो जाता है। शंभु कवि कहते हैं कि वे कुच बडे कठोर है, सबका दर्प दलन करते हैं, हाथी भी उन्हें देख चिग्घार मारकर सूँड पृथ्वी पर पटकता है, और अपने कुंभों को छार से ढकता है। भाव यह है कि मेरे कुंभ वैसे नहीं हैं।

कैसी विलक्षण सूझ है!

'दीन' कवि की सूझ देखिये—

कवित्त।

कोऊ कहैं निबू अमरूद औ अनार कोऊ
बेल नारिकेल सम कोऊ कहि गाये हैं।
ये तो प्रति बरष असंख्य फरि झरि जात
मेरे जान मूढमति कविन सुनाये हैं॥
पाय काम कुम्भक खपाय चारो सीस निज,
सोरह बरस दिन गढ़त बिताये हैं।
'दीन' कवि तब कहूँ चतुर बिरंचि नीठि,
प्यारी के ये जुग उरोज रचि पाये हैं॥२८॥

कोई कुचों को निबू, अमरूद और अनार सम बताता है, कोई नारियल और बेल के समान कहता है। पर ये तो फल हैं और प्रतिवर्ष ऐसे अगणित फल फलकर झड़ जाते हैं, अत इनकी उपमा ठीक नहीं। मेरी समझ

में ये उपमाएँ मदनति [illegible] की है। 'दीन' कवि का [illegible] है कि ब्रह्मा ने काम की सहायता से चारों दिमाग [illegible] सोलह वर्ष तक परिश्रम किया है तब मुश्किल से [illegible] युग्म बन पाया है। ऐसी कठिनता से इतने दिनों में [illegible] वस्तु की उपमा प्रतिवर्ष फलकर झड़ जानेवाले [illegible] कैसे हो सकती है ?

पुन देखिये। एक कवि कहता है—

सोरठा।

दीपक हिये छिपाय, नवल वधू घर [illegible],
कर विहीन पछिताय, कुच लखि [illegible]

हवा चल रही है, कोई नवला आँचल में [illegible] चिराग लिये जा रही है, हवा से चिराग [illegible] इसे देख कवि को सूझी कि चिराग सिर [illegible] करूँ, मेरे हाथ ही नहीं, नहीं तो भला इतना [illegible] इनके (कुचों के) स्पर्श से आनन्द न लूटता।

पुन विहारी जी कहते हैं—

दोहा।

चलन न पावत निगम मग जग उपजी [illegible],
कुच उतग गिरिवर गह्यो मीना मैन [illegible]

इन कुचों के मारे ससार शास्त्रोक्त [illegible] नहीं पाता, अब बड़ा डर पैदा हो गया है। [illegible] -रूपी पहाड़ों पर कामदेव-रूपी मीणा ([illegible], लुटेरा) अपना स्थान बना लिया है जो निगम-पथ [illegible] को लूट लेता है।

हे भावती ! 'दास' को तो तेरे कुचों में विचित्र ही गुण दिखते हैं। ये कञ्ज-कली से हैं, पर हृदय में भालों की अनी की तरह गडते हैं। मेरुवत् बडे हैं, पर कृष्ण के हाथ नहीं लगते हैं। चक्रवर्ती (गोल) हैं, पर बडे ही कठोर हैं (चकवर्ती राजा को दयावान् होना चाहिये)। ये शम्भुवत् हैं, पर उनके विरुद्ध ये तो काम को पैदा करते हैं। ये सुवृत्त (सुन्दर गोल और ईमानदार) हैं, पर दूसरों के मन को चुरा लेते है।

उक्ति तो सुन्दर है ही। विरोधाभास अलङ्कार का उत्कृष्ट उदाहरण भी है।

'पद्माकर' जी की तो आँखें ही चौंधिया गईं। सुनिये—

सवैया।

चौक में चौकी जराय जरी तेहि पै खडी बार बगारत सौंधे।
छोरि धरी हुती कंचुकी न्हान को अंगन ते जगे जोति के कौंधे॥
छाई उरोजन की छबि यों 'पद्माकर' देखत ही चकचौंधे।
भाजि गई लरिकाई मनो लरिकै करिकै दोउ दुंदुभी औंधे
॥ ३५॥

कुचों की छवि उठा ले चकचौंधिन 'पद्माकर' को वे कैसे जान पडे मानो शैशव और यौवनावस्था की लडाई में शैशवावस्था हारकर अपने विजय-नगाडे (सुवर्ण के) औंधाकर भाग गई है।

चौंधियाई आँख को और का और सूझे तो आश्चर्य क्या है।

जरा इन कवि महाशय की उक्ति देखिये। आप कहते हैं—

दोहा।

निरखि निरखि इन कुचन गति चकित होत को नाहिँ।
नारी उर ते निकसि कै पैठत नर उर माहिँ॥ ३६॥

इन कुचों की गति देखकर कौन नहीं चकित होता? देखो, कैसा गजब करते हैं कि स्त्री के हृदय से निकलकर पुरुष के हृदय में पैठते हैं (प्रभाव डालते हैं)।

सबों ने तो गाढ़े और ठाढ़े कुचों की प्रशंसा की, पर प्रवीणराय पातुर (केशव की शिष्या) ने पतित कुचों की प्रशंसा में गजब की बात कही है—

दोहा।

ऊँचे ह्वै सुर बस किये, समु हैं नर बस कीन।
अब पताल बस करन को ढरकि पयानो कीन॥३७॥

ऊँचे उठकर सुरपुर-वासियों को वश में कर लिया, और कुछ पतित होने पर समतल होकर मानव जाति को वश में किया, अब निम्नाभिमुख होकर ये कुच पाताल-निवासियों को वश करने जा रहे हैं।

इस चातुर पातुर की उक्ति ने तो कमाल कर दिया।

(उपालंभ)

'दास' जी कहते हैं—

कवित्त।

मुख द्विजराज अधिकारी मखतूल अल-
　　कन की है तासो बिन काज दुख लहिये।
नैन श्रुतसेवी सर ह्वै कै उर लागत हैं
　　नाक मुकुतन सग ताके दाह दहिये।
'दास' मनभावती न भावती चलन तेरी
　　अधर अमी के अवलोके मोहि रहिये।
ह्वै कै सभुरूपी द्वै उरज ये कठोर जो
　　कठोरताई एती करै कासो जाय कहिये।२८॥

हे मनभावती! तेरी यह चलन मुझे जरा भी नहीं भाती (तू बड़ा अत्याचार करती है)। तेरा मुख चन्द्रमा का सा भाई (अधिकरा) और अलकें रेशम की बिरादरी की हैं। इनसे अकारण ही हम दुख पाते हैं (द्विजराज= ब्राह्मण, मखतूल का गुण मुलायमत। ब्राह्मण और मृदुलता दुख का कारण नहीं होते)। तेरे नेत्र श्रुतिसेवी (वेदपाठी, कानों तक खिंचे हुए) होकर हृदय में बाण-समान लगते हैं। नाक मुकतन-(मोती, मुक्तजन) सहित है, उससे भी हमें सताप होता है। तेरे अधर अमृतमय हैं पर उन्हें देखकर हम मोहित होते हैं (मोहित करना मदिरा का गुण है)। खैर, तेरे ये सब अङ्ग अनुचित प्रभाव डालें तो कुछ हर्ज नहीं, पर तेरे कुचद्वय शम्भू (भलाई से सम्भूत) स्वरूप होकर इतनी कठोरता धारण करें (भला शम्भु भी कठोर-हृदय नहीं होता) तो यह अनहोनी बात किससे कहें?

विरोधाभास अलङ्कार से काम लेते हुए 'दास' जी ने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का कमाल इस उक्ति में अच्छा दिखलाया है। साहित्य-मर्मज्ञ इसे बार बार पढ़ेंगे और इसका रस लेंगे।

'रहीम' का कमाल देखिये और असङ्गति अलङ्कार की छटा भी परखिये। आप फरमाते हैं—

दोहा।

मनसिज माली की उपज कही 'रहीम' न जाय।
फल स्यामा के उर लगे फूल श्याम उर आय॥ ३९॥

नियम यह है कि पहले फूल लगता है, तब उसी जगह फल लगता है, पर रहीमजी कहते हैं कि काम ऐसा चतुर माली है कि (अमेरिका-निवासी बरबैंक साहब वनस्पति विद्या-विशारद को भी मात करते हुए) उसने पहले राधिका के उर पर फल (कुच) लगाये, तब उन्हें देखकर कृष्ण के उर में फूल (आनन्द) हुआ।

"यहि मुसलमान कविराज पै कोटिन हिन्दू वारिये"।

'सुखदेव' कवि की कृपा से कुच ही में दशावतार की झाँकी देखिये—

कवित्त।

मीन की विछुरता कठोरताई कच्छप की
हिये घाय करिबे को कोल ते उदार हैं।
बिरह विदारिबे को बली नरसिंह जू से
बामन से छली बरदानी अनुहारि हैं॥

द्विज से अजीत, बलबीर बलदेव ही से
राम से दयालु सुखदेव' या विचार हैं।
'मौनता मे बौध कामकला मे कलकी चाल
प्यारी के उरोज ओज दसो अवतार हैं ॥४०॥

मीन के समान चिकने, कच्छप से कठोर और हृदय में घाव करने में शूकर से हैं। विरह को विदीर्ण करने में नृसिंह से बली, छलने और वरदान देने में वामन से हैं। परशुराम (द्विज) के समान अजेय, बल में बलदेव के समान, दयालुता में राम के तुल्य हैं। बौद्धावतार के समान मौन और काम-कला में कलङ्की अवतार से हैं। इस प्रकार प्यारी के कुचों में दशों अवतारों का ओज दिख पड़ता है।

'प्रहलाद' कवि भी वही बात कहते हैं—

कवित्त।

मच्छ सम चिक्कुल कठिन ज्यो कमठ पीठ
धनी मे बराह तुल्य बहै पति भार हैं।
हृदय विदारिवे को नारसिंह सूरति से
बामन से छली परसुराम से जुझार हैं॥
राघव समान सूर, रसिक कन्हैया तुल्य,
मान में मनाइवे मे बौद्ध अवतार हैं।
कहै 'प्रहलाद' कुचकुंभ अलबेली केरे
कलकी समान ध्यान करत पैकार हैं ॥ ४१ ॥

चिक्कुल = चिकनेपन (चिकने)। परसुराम = परशु राम। जुझार = योद्धा। सूर = निर्भय लड़ाका। मान मे

अवतार है = बोद्धावतार समान मौन। पैकार = युद्ध (पैकार फारसी शब्द है)।

अर्थ स्पष्ट है।

(७) केश (अलक, वेणी, जूड़ा इत्यादि)।

दोहा।

अहे अहो कच सुमुखि के विधि बिरचे रुचि जोरि।
छूटे बाँधत हैं, बँधे लेत ललन मन छोरि॥ ४२॥

कोई कवि कहता है कि प्यारी के कच-कलाप को ब्रह्मा ने बड़े शौक से बनाया है। वे ऐसे विलक्षण बने हैं कि जब वे छूटे हुए रहते हैं तब नायक का मन बाँध लेते हैं और जब बँधे रहते हैं तब नायक का मन छुड़ा लेते हैं। कैसी सुन्दर उक्ति है!

एक अन्य कवि कहता है—

दोहा।

मुखहिं अलक को छूटिबो अवसि करै दुतिमान।
बिन बिभावरी के नहीं जगमगात सितभान॥ ४३॥

जब अलक छूटकर मुख पर पड़ती है तब मुख को अवश्य द्युतिमान कर देती है। ठीक ही है, बिना रात्रि के चन्द्रमा चमक नहीं सकता। अर्थात् जैसे रात्रि के तम से

चन्द्रमा चमचमा उठता है वैसे ही काली अलक मुख की द्युति को चमचमा देती है।

'बिहारी' का कमाल देखिये। कुटिल (टेढी) अलक की करामात का मुलाहज़ा फर्माइये—

दोहा।

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढिगो इतो उदोत।
बंक बिकारी देत जिमि दाम रुँपैया होत ॥ ४४ ॥

टेढ़ी अलक जब छूटकर मुख पर आ पडती है, तब मुख की द्युति ऐसी बढ़ जाती है जैसे टेढ़ी बिकारी लगाने से दमड़ी रुपया हो जाती है। टेढी बिकारी (ऽ) यों लिखी जाती है।

रसिया 'रसलीन' कवि की उक्ति सुनिये। आपको कुतलाम सूझता है। कहते हैं—

दोहा।

अरुन माँग पटिया नहीं, मार जगत को मार।
असित फरी पै लै धरी रकत भरी तरवार ॥ ४५ ॥

प्यारी के सिर पर ये पटियाँ और सिंदूर-भरी माँग नहीं है। तो फिर है क्या? काम ने सारे ससार को क़त्ल करके काली ढाल पर खून-भरी तलवार रख दी है।

ऐसा कहना तो न चाहिये था। शृङ्गार में बीभत्स का पुट अच्छा नहीं लगता, पर कवि एक फारसीदाँ मुसलमान है, अतः क्षम्य है। फारसी काव्य में ऐसे वर्णन बहुत हैं।

'मुबारक' की सफाई और खुशनवीसी देखिये—

दोहा।

अलक 'मुबारक' तिय बदन लटक परी यों साफ।
खुशनवीस मुनसी मदन लिख्यो काँच पर काफ॥४६॥

प्यारी के मुख पर अलक लटकती है। वह साफ ऐसी मालूम होती है मानो मनमोहन मुंशी मदन-मल्ल ने चिकने और चमकीले काँच पर 'काफ' का अक्षर लिखा हो। बिहारी की 'बङ्क-बिकारी' से मिलान कीजिये। यह कवि भी फारसीदाँ मुसलमान था।

नोट—अलक के लिये मुबारक कविकृत "अलक-शतक" देखिये।

'शेख' (आलम कवि की प्रियतमा) की उक्ति सुनिये। बालों को कसकर बाँधने का कारण बतलाती है। कहनेवाली स्वयं स्त्री है। शायद कारण सच्चा हो।

कवित्त।

रति रण विषे जे रहे हैं पति सनमुख
तिन्हैं बकसीस बकसी है मैं बिहँसि कै।
करन को कंकन उरोजन को चन्द्रहार
कटि माँहिं किंकिनी रही है अति लसि कै॥
'सेख' कहै आदर सो आनन को दीन्हें पान
नैनन में काजर बिराजै मन बसि कै।
एरी बैरी बार ये रहे हैं पीठि पाछे ताते
बार बार बाँधति हौं बार बार कसि कै॥४७॥

सुरति-रण में जिन वीर अङ्गों ने पति के सम्मुख होकर युद्ध किया है उन्हें मैंने इनाम दिया है। हाथों को कङ्कण, कुचों को चन्द्रहार, कटि को किङ्किणी, मुख को पान का बीड़ा और नेत्रों को काजल दिया है। पर उस समय (रति-रण के समय) ये बाल पीछे रहे हैं, इसीसे इन्हें कसकर (गुनहगार की तरह) बाँधती हूँ।

बेशक गुनहगार को ऐसी सजा मिलनी ही चाहिये।

काले केश-कलाप देखकर 'बलभद्र' कवि की सिट्टी भूल गई, आँखें चौंधिया गईं। आप सन्देहालङ्कार में कहते हैं—

कवित्त।

मरकत सूत कैधौं पन्नग के पूत कैधौं
राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल गुनग्राम सोभित सरस स्याम
काममृग कानन कै कुहू के कुमार हैं।
कोप की किरिनि कैधौं नील नलिनी के तन्तु
उपमा अनंत चारु चँवर सिंगार हैं।
कारे सटकारे भींजे सोंधे सों सुगंध वास
ऐसे 'बलभद्र' नव बाला तेरे बार हैं॥४८॥

हे नवबाला! ये नीलम के तागे हैं, या सर्प के बच्चे हैं, या अन्धकार के तार हैं, या रेशम का सुन्दर गुच्छा है, या काम-वन के मृग हैं, या अमावस की रात्रि के बालक हैं, या क्रोध की किरणें हैं, या नील कमलिनी के तन्तु हैं, या अनुपम शृङ्गार रस की चमर हैं, या लम्बे सुगन्धित तेरे बाल हैं?

जब बलभद्र जैसे साहित्य-पुङ्गव को बालों के बारे में निश्चय न हो सका तो हम क्या कह सकते हैं।

'केशव' की गभीर उक्ति सुनिये । कोई सखी राधिका से कहती है—

कवित्त ।

कोमल अमल मृदु चीकने चिलक चारु
चितये तें चित चकचौंधियत 'केसोदास' ।
सुनहु छबीली राधे छूटे ते छुवैं छवानि
कारे सटकारे हैं सुभाव ही सदा सुबास ॥
सुनि कै प्रकास उपहास निसिबासर को
कीन्ह्यो है सुकेसी बसोबास जाय कै अकास ।
यद्यपि अनेक चंद साथ मोरपच्छ तक
जीत्यो एक चंदमुख रूप तेरे केस पास ॥४९॥

तेरे बाल मुलायम हैं, साफ और स्वच्छ हैं, इतने चिकने हैं कि कोई वस्तु उनपर ठहरती नहीं, ऐसी कांति से युक्त हैं कि आँखें चौंधिया जाती हैं (बलभद्र के भाई ही तो ठहरे)। हे छबीली राधिका! तेरे छुटे हुए बाल इतने लम्बे हैं कि एड़ियों तक पहुँचते हैं और खूब ही काले हैं तथा स्वाभाविक सुगन्धित हैं, फुलेल लगाने की जरूरत नहीं। सुकेशी नाम्नी अप्सरा तेरे बालों के मुकाबले में अपने बालों की निंदा सुनकर आकाश में जा बसी है। यद्यपि मोर के पंखों की सहायता अनेक चन्द्र करते हैं तो भी तेरे केशों ने एक ही मुखचन्द्र की सहायता से उनको जीत लिया है, (मोरपंख से भी अधिक सुन्दर हैं)। केशव कविता के

आचार्य ठहरे, अत बालों के सब गुणों का उल्लेख इस छंद में एकत्र कर गये हैं। यही ख़ूबी मननीय है।

गुँधी हुई वेणी सर्पाकार पीठ पर पड़ी है, इसपर एक कवि कहता है और बहुत ही खूब कहता है—

कवित्त।

पीठि तन ताकत ही डीठि डसि लेत फेरि
फैलि कै विषम विष रोम रोम छावतो।
छिनक में ऐसे हाल केतन के होते तब
एते कोऊ गारुडी कहाँ ते खोजि लावतो॥
ईस्वर दुहाई जो पै होती वाके ऐसी व्याली
काली को नथैया कान्ह काहे को कहावतो।
मुरि मुसकानि मन्त्र जानती न राधे तो या
बेनी के डसन ब्रज बसन न पावतो॥ ५०॥

पीठ की ओर देखते ही तेरी यह चोटी दृष्टि ही को डस लेती, उसका विष रोम रोम में छा जाता, एक क्षणमात्र अनेक लोगों का ऐसा ही हाल होता तो इतने झाड़-फूँक करनेवाले कहाँ मिलते। यदि काली नाग के पास कोई ऐसी नागिनी होती तो कृष्ण उसे नाथ न सकते। यदि पलटकर मुसका देने का मन्त्र तेरे पास न होता तो हे राधिका, तेरी इस चोटी-रूपी नागिनी के दंशन के मारे ब्रज-मण्डल उजाड़ हो जाता।

एक उर्दू कवि की उक्ति का भी मज़ा चखिये—
कहा दिल ने कि चल तुझको तमाशा एक दिखलाऊँ।
तहे काकुल अरक़ आलूद: इक गर्दन झलकती है॥

कहा उसने कि ऐसे वक्त मे क्योंकर कोई गुजरै।
अँधेरी रात है वरसात है विजुली चमकती है ॥ ५१ ॥

गर्दन पर वाल पड़े हुए हैं, कुछ पसीना भी आ रहा है। इसीपर उक्ति है।

मैने अपने दिल से कहा कि चल, तुझको एक तमाशा दिखलाऊँ। उसने पूछा, कौनसा तमाशा? मैने कहा, गर्दन पर वाल पडे हुए है, पसीने के बूंद आ गये हैं, गर्दन झलक रही है। यही दिखलाऊँगा। उसने उत्तर दिया, जनाव, आप ही जाइये, मैं तो नहीं जाता, क्योंकि वडा ही बुरा वक्त है। ऐसे समय में भला कोई घर से निकलता है कि अँधेरी रात हो, वरसात हो, और विजली चमकती हो (वाल काली रात, पसीना वरसात, गर्दन की झलक विजली है)।

(८) चरण।

श्रीवृन्दावन-विहारिणी राधिकाजी के चरण की प्रशंसा सुनिये—

सवैया।

सीस जटा धरि नंदन में मुनिवृ दन मे बहुकाल विताये।
वल्कल चीर लपेटि शरीर महासुरतीरथ नीर नहाये॥

आठहु जाम सहे हिम घाम पुरंदर धामहु काम बढ़ाये।
यों कलपद्रुम कोटि उपाय किये तुव पाँय से पात न पाये
॥ ५२ ॥

कोई कवि कहता है कि हे राधिका, कल्पवृक्ष सिर पर जटा रखाकर नन्दन वन में मुनियों के साथ बहुत दिन तक रहा, वल्कल वस्त्र धारण करके आकाश-गङ्गा में स्नान करता रहा, रात-दिन सरदी-गरमी सही, इन्द्रपुरी में रहकर बहुत से काम किये। इस प्रकार कल्पवृक्ष ने बहुत से उपाय किये, पर तेरे चरणों के समान सुरङ्ग और कोमल पल्लव उसे प्राप्त न हुए।

और सुनिये—

दोहा।

कहत बाकिये चरन की नई अरुनई बाल।
जाके रँग रँगि स्यामहू विदित कहावत लाल ॥५३॥

हे बाला, तेरे चरणों की अद्भुत लालिमा का वर्णन मुझसे नहीं हो सकता (कैसी अद्भुत है), जिनके प्रेम में पगकर कृष्ण भी (जो स्वभावतः काले हैं) प्रत्यक्ष लाल कहलाते हैं (काले रङ्ग पर कोई रङ्ग नहीं चढ़ता, पर यह बेशक अद्भुत लालिमा है जिसने श्याम को लाल बना दिया)।

श्रीकृष्ण की नख-द्युति की प्रशंसा सुनिये—

दोहा।

तव पद-नख की दुति कलुक धोय गई जल साथ।
तेहि कन मिलि दधि मथत में चन्द्र भयो है नाथ ॥५४॥

हे कृष्णजी, तुम्हारे चरण-नख की द्युति थोड़ी सी घुलकर समुद्र में चली गई थी। उसी धोवन के एक कण से समुद्र मथते समय चन्द्रमा पैदा हुआ है।

वाह, कैसी ऊँची उड़ान है!

पुन चरण की लालिमा का प्रभाव देखिये। गजब की उड़ान है—

दोहा।

लिखन चहौं मसि बोरि जब अरुणाई तुव पाँय।
तब लेखनि के सीस को ईंगुर रँग ह्वै जाय॥ ५५॥

जब मैं कलम को सियाही में डुबोकर तुम्हारे चरणों की लालिमा के बारे में कुछ लिखना चाहता हूँ तब क्या देखता हूँ कि कलम का सिर ईंगुर के रङ्ग का हो जाता है (तेरे चरणों की लालिमा के लिखने के विचार मात्र से ऐसी अद्भुत घटना घटित होती है कि कलम की जबान डुबाता हूँ स्याही में और सुर्खी आ जाती है उसके दूसरे छोर पर)!

अनौटा।

दोहा।

ओट करी नहिं जाति है केहूँ इनकी चोट।
बिधि याही बिधि तें धरयो इनको नाम अनोट॥ ५६॥

इनकी चोट से किसी प्रकार आड़ नहीं की जा सकती (किसी प्रकार की आड़ लेकर इनकी चोट से बच

नहीं सकते) ब्रह्मा ने इसी कारण इनका नाम 'अनोट' (अन + ओट) रखाया है।

निरुक्ति अलङ्कार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

'मुरलीधर' जी की सूझ देखिये—

कवित्त।

अरुणता एड़िन की रवि छवि छाजत है
चारु छवि चंद आभा नखन करे रहैं।
मंगल महावर गोराई बुध राजत है
कनक बरन गुरु बनक धरे रहै॥
शुक्र सम जोति शनि राहु केतु गोदना है
'मुरली' सकल शोभा सौरभ भरे रहैं।
नवो ग्रह चाइन तें सेवक सुभाइन ते
राधा ठकुराइन के पाइन परे रहैं॥ ५७॥

एड़ियों की ललाई सूर्य है, नख-प्रभा चंद्र है, महावर मङ्गल, गोराई बुध, स्वर्ण रङ्ग बृहस्पति है। चरणों की कान्ति शुक्र और गोदना के बुंद शनि, राहु और केतु हैं तथा समस्त शोभा और सुगन्ध से परिपूर्ण है। अतः मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि राधा रानी के चरणों की सेवा नवग्रह स्वभावतः किया करते हैं।

कहिये पाठक ! जमीन और आस्मान के कुलावे मिले हुए दिखलाई पड़ते हैं कि नहीं ? रत्नावली अलङ्कार की छटा भी दर्शनीय ही है।

नख-प्रभा।

'नवीन' कवि की नवीनता देखिये—

कवित्त।

रूप की अवधि मानो कञ्ज किसलय सद
छवि चित्त चीकनी न माखन की ओटै है।
पिय अनुराग के निवास को 'नवीन' वास
आभा अरुनाई काँति भानु काँति जोटै है॥
पागुरी भई है मति आगुरी निहारि चारु
उपमा न आन पैयै बुद्धि यो चकोटै है।
देखि पदनखन उजारी तेरी मेरी आली
आज परी चाँदनी धरनि पर लोटै है॥ ५८॥

तेरे चरण रूप की सीमा ही है (अत्यन्त रूपवान् है), उनकी उँगलियाँ सद्य-प्रसूत कञ्जदल-सम हैं। क्या उनकी छवि चित्त को और सचिक्कणता (मुलायमत) मक्खन को नहीं ओट डालती (ओट डालती है, पीस डालती है)। प्रियतम के प्रेम के रहने के लिये वे चरण मानो नवीन वासस्थान है, उनकी आभा, अरुणाई और कान्ति सूर्यकान्ति की जोड की है। उँगलियाँ देखकर तो मति पगुल हो गई, बुद्धि चकोटी लेती है कि कोई उपमा कहो, पर कोई उपमा मिलती ही नहीं। और क्या कहूँ, हे सखी! तेरे पद-नख की ज्योति को देखकर आज चाँदनी शोक से जमीन पर लोट रही है।

(९) चिबुक-बिन्दु ।

चिबुक पर काला तिल है । इसपर 'मुबारक' कवि कहते हैं—

दोहा ।

मन जोगी आसन कियौं चिबुक गुफा मे जाय।
रह्यौ समाधि लगाय कै तिल सिल द्वारे लाय ॥ ५९ ॥

मेरे मन रूपी योगी ने चिबुक-गुफा में जाकर आसन जमाया है और तिल को शिला की भाँति द्वारे पर लगाकर वहीं समाधि लगा रहा है ।

रसिक-शिरोमणि 'बिहारी' जी कहते हैं—

दोहा ।

ललित स्यामलीला ललन बढ़ी चिबुक छबि दून।
मधु छाक्यो मधुकर परयो मनो गुलाब प्रसून ॥ ६० ॥

सुन्दर श्याम चिबुक-बिन्दु से, हे ललन ! उस प्यारी के चिबुक की छवि दूनी बढ़ गई है। ऐसा जान पड़ता है मानो मकरन्द से छका हुआ भौंरा गुलाब पुष्प पर पड़ा हो ।

'दिनेश' कवि चिबुक-बिंदु पर कैसा प्रकाश डालते हैं, सो भी सुन लीजिये—

सवैया ।

प्यारी की ठोढी को बिन्दु ' दिनेस '
किधौं बिसराम गुबिन्द के जी को ।

चारु चुभ्यो कणिका मणि नील की
कैधौं जमाव जम्यो रजनी को ॥
कैधो अनग सिगार के रग लिख्यो वर मंत्र वसीकर पी को।
फूले सरोज में भौंरी बसी किधौं फूल ससी मे लग्यो अरसी को
॥ ६१ ॥

यह प्यारी के चिबुक का गोदन-बिन्दु है, या गोविन्दजी का विश्रामस्थान है, या नीलम का कण चुभा हुआ है, या रात्रि ही सिमिटकर एकत्र हो गई है, या कामदेव ने सिङ्गार के रङ्ग से प्रियतम को वश में करने का कोई मन्त्र लिखा है, या विकसित कमल पर कोई भौंरी आ बसी है, या चन्द्रमा में अलसी का फूल लगा है। कुछ मालूम नहीं होता कि यह है क्या।

बेशक, यह ऐसी ही वस्तु है। मालूम कैसे हो, उसे देखकर चित्त ठिकाने तो रहता ही नहीं।

'गुलाब' कवि कहते हैं—

सवैया ।

काहू कही कि 'गुलाब' कली पर
भौंर को चेटुवा आनि अरयो है।
सोन दया में जवाहिरी मैन
मनो नग नीलम चारु जरयो है ॥
प्यारी की ठोढी विराजि रह्यौ तिल
देखि विचार यहै मै करयो है।
भौंहै बनावत मानो विरंचि की
लेखनी तें मसि बिन्दु भरयो है ॥६२॥

प्यारी के चिबुक-बिन्दु के विषय मे किसी ने तो यह कहा कि गुलाब की कली पर भौंरे का बच्चा आकर डट-

कर बैठ गया है (अब यहाँ से उडता ही नहीं), किसी ने कहा कि काम-जौहरी ने मानो सोने के डब्बे पर सुन्दर नीलम जड दिया है। पर प्यारी का चिबुक-बिन्दु देखकर मेरे विचार में तो यह बात आई है कि भौंहें बनाते समय ब्रह्मा की लेखनी से स्याही की एक बूँद उस जगह गिर गई है, वही यह चिबुक-बिन्दु हो गई है।

एक कवि यों फर्माते हैं—

दोहा।

स्याम बिंदु नहिँ चिबुक में मो मन यों ठहराय।
अध मुख ठोढ़ी गाड़ की अँधियारी दरसाय॥ ६३॥

यह चिबुक-बिन्दु नहीं है, मेरी सम्मति में तो यह औंधे मुखवाले चिबुक-गर्त की अँधियारी ही दिख पड रही है।

दूसरा कवि कहता है कि भाई, हम तो इसे मानने के लिये तैयार नहीं, हमारी समझ में तो—

दोहा।

डीठि निसेनी चढ़ि चल्यो ललचि सुचित मुख ओर।
चिबुक गड़ारे खेत में निबुक गिरयो चित चोर॥ ६४॥

दृष्टि-रूपी नसेनी से चढकर कुछ हथियाने की लालच से किसी का चित्त मुख की ओर चला था, पर चिबुक-रूपी गड्ढेवाले खेत में वह चित्त-रूपी चोर गिर पडा है, यह वही काला चोर है।

बेशक बुरी नियतवाला गड्ढे में गिरता ही है।

'रसनिधि' जी चिवुक-कूप से नेत्रों को पानी भरवाते हैं—

चिवुक कूप मधि डोल तिल डारि अलक की डोरि।
दृग भिस्ती करि कर पलक छबि जल भरत झकोरि॥ ६५॥

नेत्र-भिश्ती पलकों के हाथ बनाकर, अलक की डोर और चिवुक-विन्दु के डोल से चिवुक-कूप (चिवुक पर के गड्ढे) से छवि-रूपी पानी झोंके से भर रहे हैं।

दृश्य बहुत सुन्दर है, जरा मजा ले लेकर दो चार बार पढ़िये और विचारिये तथा छवि-जल पीकर अपनी प्यास बुझाइये।

(१०) जँभाई।

ब्रह्म कवि (बीरबल) जी का खींचा हुआ चित्र देखिये—

सवैया।

सेज ते ठाढी भई उठि बाल लई उलटी अँगराय जम्हाई।
रोमकी राजी बिराजी विसाल मिटी त्रिवली अरु पीठि खलाई॥
बेनी परी पग ऊपर पाछे तें 'ब्रह्म' यहै उपमा उर आई।
लोक त्रिलोक के जीतिबे कारन सोने की काम कमान चढाई
॥ ६६॥

कोई नायिका प्रात काल पलग से उठकर जमीन पर खडी हुई और अँगडाई लेकर पीछे की ओर झुकते हुए अम्हाई भी ली। ऐसा करने में उसकी पेटी दिखलाई पड-गई (कवि को तो रोमावली देख पडी), त्रिवली मिटी हुई दिखाई दी और पीछे की ओर झुक जाने से पीठ दूनर सी हो गई। पीछे की ओर से लम्बी वेणी पैर पर जा पडी, तब 'ब्रह्म' कवि को यह उपमा सूझी कि त्रिलोक को जीतने के लिये मानो काम ने सोने की कमान चढाई है।

कैसा सुन्दर और सजीव चित्र है। पाठक देखें और बीरबल को धन्यवाद दें जिनकी प्रतिभा की बदौलत ऐसा चित्र देखने को मिला।

(११) जानु (जंघा)।

'केशव' की बात सुनिये—

कवित्त।

कोमल कमलमुखी तेरे ये जुगुल जानु
मेरे बलबीर जू के बलहि हरत हैं।
सौरभ सुभाय सुभ रंभा के सुखभ अरु
'केसव' करभ हू की सोभा निदरत हैं॥
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सौं
देखि देखि गजराज लाजनि मरत हैं।

मोचि मोचि मद गति सकल सकोचि सोचि
सुधि आये सुंडनि की कुंडरी करत हैं ॥ ६७ ॥

हे कमलमुखी, तेरे ये कोमल युगल जानु मेरे कृष्ण जी के बल को हरते हैं। स्वाभाविक रूप से ही सुगन्ध युक्त और केले के खम्भ के समान हैं, हाथी के बच्चे की सूँड़ की शोभा को भी अनादृत करते हैं, कृष्ण की क़सम इन जंघाओं को देखकर गजराज भी लज्जित होते हैं और चाल का घमंड छोड़कर सकुचाते और सोचते हैं और तेरे जंघों का स्मरण करते ही अपनी सूँड़ को कुण्डलित करके सकोड़ लेते हैं।

(१२) ठोढ़ी-गाड़ (चिबुक-कूप)।

चिबुक-कूप पर एक कवि की उक्ति यों है—

दोहा।

या ठोढी सरि को जबै सफल भये बौराय।
तबहिं रसालन को गई कोयल दाग लगाय ॥ ६८ ॥

ठोढ़ी की सुन्दरता देखकर कवि कहता है कि इस ठोढी की बराबरी करने के उद्योग में जब आम्रवृक्ष बौरा कर सफल हुए (पहले बौरे आई, फिर ठोढ़ी के आकार के फल पैदा हो गये), तब घमंड करने लगे। उनका घमंड चूर करने के लिए कोयल उनके फलों पर दाग लगा गई।

किसी किसी फल पर काला दाग होता है। उसके

'रङ्गपाल' कवि का रङ्ग वरमाना देखिये। आप उसी कपोल-तिल को देखकर अनुमान करते हैं—

कवित्त।

कैधौं पोखराज पैं परी है रसराज छींट
कैधौं मैन आरसी में नीलम नगीनो है।
तारापति गोद में तरनि को तनय कैधौं
सुमन गुलाब में मलिन्द बास कीनो है॥
'रगपाल' गाल पैं रसाल तिल सोहै किधौं
लपटो रसिक राय मन रसभीनो है।
कैधौं रूप-रतन खजाने के महल पर
मदन महीपति मुहर करि दीनो है॥९२॥

या तो पुखराज पर सिङ्गार की छींट पड गई है, या कॉच पर नील नग जडा है, या चन्द्रमा की गोद में शनि विराजे हैं, या गुलाब के फूल में भौंरा बसा है, या गाल पर तिल है, या नायक का रसिया मन ही वहीं चिपक गया है, या रूप के खजाने की कोठरी पर काम-राजा ने अपनी मोहर लगा दी है।

हमें भी कुछ निश्चय नहीं हो रहा है कि यह कौन सी बला है जिसके वर्णन में संसार भर के कवि हैरान हैं।

'रसनिधि' की रसिकता का मुलाहिज़ा हो—

दोहा।

नेही दृग दीवान ने जबते कीन्ही थाप।
रूप रुक्न पै कर दई मदन भूप तिलछाप॥९३॥

यह तिल नहीं है, यह तो मदन-महीप की मोहर है। जब से प्रेमी के नेत्र-रूपी मन्त्री ने इस सौंदर्यागार की थाप मान ली, तब से इस सौंदर्य-सदन पर मदन-महीपति की छाप लगी है। बेशक मन्त्री की पसन्द की हुई बात पर राजा को सही करनी ही चाहिये।

पुन कहते हैं—

दोहा ।

भावन्ता मुख स्वच्छ पै जो यह तिल दरसाय।
सो दृग तारन में जु तिल ताकी आभा आय ॥ ७४ ॥

प्रियतम के स्वच्छ मुख पर जो यह तिल देख पड़ता है वह तिल नहीं है, यह तो मेरी पुतलियों की छाया है (क्योंकि मेरे नेत्र सदैव वहीं गड़े रहते हैं)।

अनुमान तो खूब किया गया।

और सुनिये—

दोहा ।

सब जग पेरत तिलन को थक्यो चित्त यह हेरि।
तुव कपोल को एक तिल सब जग डारचो पेरि ॥ ७५ ॥

कायदा यह है कि सारा ससार तिलों को पेरता है। इस घटना को देखते देखते तो चित्त थक गया, तब यह आश्चर्य-घटना देखने में आई कि तेरे कपोल के एक तिल ने सारे ससार को पेर डाला (दु ख दिया)।

सतुष्ट न होकर 'रसनिधि' जी पुन' कहते हैं—

दोहा।

नेही तिल रसनिधि लखौ सुमन संग पिरि जाय।
निरमोही मुख को जु तिल सुमन पेरि बचि जाय ॥१६॥

देखो, तैल-युक्त तिल तो फूल (सुमन) के साथ पिर जाता है, पर इस निर्मोही प्रियतम के मुख का तिल सुन्दर नेही जनों के सुमन को पेर भी डालता है और स्वय बचा रहता है ।

बेशक यह तिल ऐसा ही है। इसे आज तक कोई भी न पेर सका।

एक शृ गारी कवि की भक्ति भावना देखिये। आप कहते हैं—

दोहा।

विमल अमोल कपोल पै लसत गोल तिल स्याम।
मनो सरद के चन्द पे राजत सालिगराम ॥ ३१ ॥

इस निर्मल और अमोल कपोल पर गोल गोल जो यह तिल है वह मुझे ऐसा जान पडता है मानो शरद-चन्द्र पर शालग्राम विराज रहे हैं। क्यों नहीं—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन तैसी॥

'द्विज' कवि की आलाप सुनिये—

सवैया।

रूप की रासि में कै रसराज को
अंकुर आनि कढ्यो सुभ होना।
कै ससि ने तम ग्रास कियो तेहि को
रह्यो शेष दिखात सो कोना॥
प्यारी के गोरे कपोलन पै 'द्विज'
राजि रह्यो तिल स्याम सलोना।
कै मधुपान पर्यो अलमस्त
किधौं अरविंद मलिन्द को छौना॥ ७८॥

यह प्यारी के गोरे कपोलों पर काला और लावण्य-मय तिल है, या रूप की राशि में शृङ्गार का होनहार (खूब बढनेवाला) अंकुर निकला है, या चन्द्रमा ने तम का ग्रास किया है, उसका कुछ अंश अभी निगलने से बच गया है वही छोर है, या मधुपान से मस्त किसी भौंरे का बच्चा कमल पर बेहोश पडा हुआ है।

अरे भाई, इसका निश्चय करना बडी टेढ़ी खीर है।

"कितनेउ खोजी मर गये कितनेउ माँगत भीख"।

(१४) त्रिवली।

'शंभु' कवि कहते हैं—

सवैया।

प्यारी के अंग बनावत ही 'नृपशंभु' जू देव भये अनिमेखै।
कंज के कंटक साल जम्यो भयो चन्द मलीन अजौं लग देखैं॥
राजमई सुरवाम भईं पछितान्यो स्वयंभु महा मन सेखै।
दूसरी औरं बनाइबे को त्रिवली खैंची तीनि ललाक की रेखैं
॥ ७९ ॥

जब से प्यारी की त्रिवली बनी है तब से उसे देखने के लिये देवता अनिमेष हो गये हैं—टकटकी लगाकर देखा ही करते हैं, उनकी पलकें गिरती ही नहीं (प्रवाद है कि देवता अनिमेष होते हैं), कंज कंटकित हो गया, चंद्रमा मलिन-मुख हो गया, देव-स्त्रियाँ लज्जित हो गईं, ब्रह्मा भी अन्त में पछताया कि यह मैंने क्या बना डाला। त्रिवली की तीन रेखाएँ मानो इस बात के लिये चुनौती-रूप हैं कि देखें, अब ऐसी सुन्दर नायिका दूसरा कौन बना सकता है। कदापि न बनैगी, न बनैगी, न बनैगी।

एक कवि महाशय का भयाभास देखिये—

दोहा।

एक बली के जोर तें जग में बचैं न कोय।
तुव त्रिवली के जोर तें कैसे बचियो होय॥ ८०॥

अरे बप्पारे! एक बली से तो संसार में कोई अद्दव्य बचता नहीं, भला तेरी त्रिवली से कौन, कब और कैसे बच सकेगा।

कविजी का भय यथार्थ है। कोई भी नहीं बचा।

'रसनिधि' महाशय को रसीली ही बात सूझती है। आप कहते हैं—

दोहा।

कुच ऊँचे गिरि चढ़त खन-दृगन मिलै आराम।
तुव त्रिवली सीढ़ी रची चतुर विधाता काम॥ ८१॥

अत्यन्त चतुर काम-विधाता ने त्रिवली-रूपी सीढ़ी इसलिये बनाई है कि कुच-रूपी ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते समय नेत्रों को अधिक कष्ट न हो, कुछ आराम मिल जाया करे।

'मीन' कवि की उक्ति सुनिये। त्रिवली पर आप अनुमान लड़ाते हैं—

कवित्त।

कैधौं मैन भूपति के रथ के सुचक्र चलैं
तिनही की लीकैं ये उदर पर तीन हैं।
कैधौं मैन ठग की ये गलो भली ठगिवे की
कैधौं रूप-मग हूँ तिधार कियौ गौन है॥
ऐसी छवि देख तेरी मोहे मनमोहन जू
याते मैं हूँ जानी यही मोहिवे को 'मीन' है।
एक बली सब ही को बस करि राखत है
त्रिवली जो करै बस अचरज कौन है॥ ८२॥

यह त्रिवली है या मदन-महीपति के रथ के पहियों की लकीरें तो नहीं हैं, या वे गलियाँ तो नहीं हैं जहाँ मदन-ठग लोगों को ठगता है, या रूप-गंगा तो त्रिधारा होकर नहीं बह रही है? तेरी त्रिवली की छवि देखकर स्वयं मोहन जू का मन मोहित हो गया, इसीलिए 'भोन' कवि ने जान लिया कि वेशक यह(त्रिवली) मोह-भवन है। बात उचित ही है। संसार में देखा जाता है कि एक बली (व्यक्ति) सब को वश में कर लेता है तो यह त्रिवली (तीन बली व्यक्ति) सब को वशीभूत कर ले तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है?

'रघुनाथ' कवि का अनुमान सुनिये—

कवित्त।

अंग गोरे गोरे भाँति देखि झिलमिली कांति
कछू उठी रोम पाँति बेनी की सी झाँई है।
'रघुनाथ' मन भले लागी नित नित नई
नैनन की कोर कान ओर लगि आई है॥
कंजकली कैसे कुच अलि कैसो कुच लाँक
त्रिबली की तीनो रेख सरल सुहाई है।
सिसुता उतारिबे को यौवन के चढ़िबे को
मानो खास कारीगर सीढ़ी सी बनाई है॥ ८३॥

अंग कुछ गोरा गोरा सा है, कांति झिलमिला रही है, पेट पर रोम-राजी ऐसी जान पड़ती है मानो पीठ पर पड़ी हुई चोटी की झाईं है जो इस ओर झलक आई है। 'रघुनाथ' कवि कहता है कि उसे देखकर मैं तन-मन से प्रसन्न हो गया, क्योंकि प्रति क्षण वह नवीन शोभा देती है। नेत्र इतने बड़े हैं कि उनकी कोरें कानों तक पहुँचती हैं।

कमल-कली से कुच, भौंरे की कमर के समान बारीक कमर है और त्रिवली की तीन रेखाएँ अत्यन्त सीधी और सुन्दर हैं। वे कैसी मालूम होती हैं मानो शिशुता को उतारने और यौवनावस्था को चढाने के लिये काम-कारीगर ने सीढियाँ सी बनाई हों।

बेशक यही बात है। इसमें जरा भी शक नहीं।

'रघुनाथ' कवि को सतोष न हुआ, तब फिर कहते हैं—

कवित्त।

मन-हंस बसिबे को रूप की नदी में कैधौं
निकसी पुलिन पाँति काति हेम सोने की।
सैसव सो लरिबे को यौवन महीप कैधौं
दीनो मेंड़ मोरचे की साध जीत होने की॥
नैन बसि करिबे को कहै कवि 'रघुनाथ'
त्रिवली तिया की किधौं तीन रेख टोने की।
कुच-भार धारिबे को देखि अति छाम कटि
कैधौं काम बाँधी है बनाय दाम सोने की॥ ८४॥

ये मन-रूपी हस के बसने के लिये सौन्दर्य-रूप नदी की स्वर्णकान्तिमय तीन रेतियाँ निकली है, या यौवन-भूप ने शैशव से युद्ध करने के लिये, जय की इच्छा से, मोरचे-बन्दी के धुस बाँधे हैं, या नेत्रों को वशीभूत करने के लिये ये जादू की तीन रेखाएँ है, या यह त्रिवली है, या कमर को बहुत कमजोर समझकर कुच-भार सँभाल सकने के प्रबन्ध के लिये काम ने सोने की रस्सी बनाकर तीन फेरा करके कमर को बाँध दिया है (कुछ समझ में नहीं आता)।

विलक्षण सूझ है, अनोखी उत्प्रेक्षाएँ हैं।

(१५) दंत।

मिस्सी-लगे दाँतों की छवि देखकर एक कवि महाशय कहते हैं—

सवैया।

वारिज मे बिलसै अलि-पाँति किधौं अलि अच्छर मंत्र बसी के।
मैन महीप सिंगार पुरी निज बाँह बसाई है मध्य ससी के॥
आनँद सो दरसी दसनावलि स्याम मिसी मिलि ऐसी लसी के।
फूलन की फुलवारिन में मनो खेलत हैं लरिका हबसी के
॥ ८५॥

यह कमल पर अलि-पंक्ति है, या वशीकरण-मंत्र के अक्षर हैं, या कामराज ने निज बाहुबल से चन्द्रलोक में शृङ्गार-पुरी बसाई है, या यह मिस्सी-युक्त दशनावली है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो पुष्प-वाटिका में हबशियों के बालक पंक्ति बाँधकर कोई खेल कर रहे हैं।

दन्तावली पर एक अन्य कवि की उक्ति देखिये—

कवित्त।

कैधौं चित्र मित्र में बसाई है किरन ताते
फूल्योई रहत अनुमान यह पायो है।

कैधौं ससिमंडल में सोभा उडुमंडल की
कैधौं हास रस निज नगर बसायो है ॥
दसन की पाँति कुंद कलिन की भाँति आछी
सोहत है काति गुन कोविदन गायो है।
मानहु विरंचि तेरी बानी को चतुर रानी
दो लर कै मोतिन को हार पहिरायो है ॥ ८६ ॥

कवि अनुमान करता है कि या तो सूर्य ने अपने मित्र (कमल) में अपनी किरणें बसा दी हैं, इसीसे यह मुख-कमल सदा प्रफुल्लित रहता है, या शशि-मण्डल में तारा-मण्डल की शोभा है, या हास्यरस ने अपना नगर ही यहाँ बसा लिया है, या दशनावली कुन्द-कली की भाँति शोभती है जिसकी प्रशंसा कविगण करते हैं। मेरी समझ में तो यह आता है कि हे चतुर राधिका रानी! ब्रह्मा ने तेरी वाणी को मोतियों का दोलरा हार पहना दिया है।

(दन्त-चोप)

'सुखसागर' कवि दाँतों में लगी हुई स्वर्ण-कीलों को देखकर कहते हैं—

सवैया।

घूँघट झीने दुकूल को झूलै झुकैं दृग बंकित कानन छ्वै।
भौहन बीच धर्यो मनमोहन ओठन लाल रच्यो रँग च्वै॥
नद हँसे 'सुखसागर' को मुख चोपन की उपमा लय ह्वै।
साँवरे दसन की तिमिरावलि मैन धरे मनो दीपक द्वै
॥ ८७ ॥

पतले कपड़े का घूँघट है, वङ्क कटाक्ष कानों तक जाते हैं, भौंहों को देखकर मोहन का मन मोहता है, ओठों से लाल रङ्ग टपकता है। मुस्कुराने से दाँतों की चौपें (दाँतों में जड़ी हुई सोने की कीलें) देखकर मुझे तो ऐसा मालूम हुआ कि मिस्सी-लगे दाँतों की अँधियारी में मानो काम ने दो चिराग़ रख दिये हैं।

कवि की दृष्टि संसार की समस्त वस्तुओं में सौन्दर्य ही देखती है—इस बात का उत्कृष्ट उदाहरण यह छंद है।

लाल ओठों के भीतर सफेद दाँतों पर कवि का अनुमान सुनिये—

दोहा।

मोल लेन को जगत जिय विधि जौहरी प्रबीन।
राखे विद्रुम के डबा ले द्विज मुकुत नवीन॥ ८८॥

प्रवीण ब्रह्मा-जौहरी ने संसार के प्राण मोल लेने के लिये मानो मूँगे के डब्बे में अद्भुत मोती रखे हैं।

पीक रङ्ग से रँगे हुए लाल दाँतों पर अनुमान सुनिये—

दोहा।

अरुन दसन युत शुभ लसत सुदती मुख यहि भाँति।
बैठी जनु बिच कमल के इन्द्रबधुन की पाँति॥ ८९॥

उस सुदन्ती का मुख लाल दाँतों से ऐसी शोभा देता है मानो कमल में बीरबहूटियों की पंक्ति बैठी हो।

जो व्यक्ति इन वस्तुओं का मजा लेना चाहे वह पहले अपनी दृष्टि को कवि की सी दृष्टि बना ले, प्रेम का चशमा लगा ले और प्रति वस्तु को गौर से देखने का अभ्यास कर ले।

और सुनिये—

दोहा।

अरुन दसन तुव वदन लखि को नहि करै प्रकास।
पुहमीसुत आये पढन विद्या बानी पास ॥ ९० ॥

तेरे मुख में लाल दाँत देखकर यह बात कौन न कहेगा कि वे ऐसे जान पडते हैं मानो बहुत से मङ्गलग्रह वाणी के पास विद्या पढने को आये हैं और विद्यार्थियों की तरह पंक्ति बाँधकर बैठे हैं।

पुन —

दोहा।

दसन माहिँ कैसी बसी घडी मिसी की नीक।
कली चमेलिन पै मनो गुलसौसन की लीक ॥ ९१ ॥

मिस्सी की धडी-युक्त दाँत कैसी अच्छी शोभा दे रहे हैं मानो चमेली की कलियों पर गुलेसौसन की रेखा खींची गई है।

'दास' जी की विलक्षण प्रतिभा की कारीगरी देखिये—

कवित्त।

बिधु सो निकासि नीकी बिधि सो तरासि कला
सै करि सँवारयो बिधिवत सो बनाय है।

हास ही में 'दास' उजराई को प्रकास होत
अधर ललाई धरे रहत सुभाय है॥
हीरा की हेरानी उडगन की उड़ानी अरु
मुकुतन हूँ की छवि दीन्ही मुकताय है।
प्यारी तेरे दंतन अनार-दाने कहि कहि
दाना हूँ कै कवि क्यों अनारी कहवाय है॥ ९२॥

चन्द्रमा से सार वस्तु निकालकर अच्छी तरह से गढ़-छीलकर बड़ी होशियारी से विधि ने विधि-पूर्वक बनाये हैं। हँसते समय उन दाँतों की चमक से प्रकाश हो जाता है, ओठों पर स्वाभाविक ललाई है ही। दाँतों की चमक से हीरे की चमक खो गई, तारागण की चमक उड गई, मोतियों की कांति दूर हो गई। हे प्यारी! तेरे दाँतों को अनारदाने समान कहकर कोई दाना (ज्ञानी) मनुष्य अनारी क्यों बनेगा?

'अनारी' शब्द इस छंद की जान है। इस शब्द के प्रयोग की खूबी 'दास' जी की मुशीगरी का नमूना है। उत्तम श्लेष है।

अनारी = (१) अनारवाला, अनार की उपमा देने वाला, (२) अज्ञानी।

अब 'केशव' की गुरु गंभीरता और तर्कवादिनी बुद्धि को देखिये—

कवित्त।

सूक्षम सुगंध-सूधी सु-नय बतीसी किधौं
लच्छन बतीस हू की मूरति बिसेखिये।

रातो है रतीक और सेत सब किधौं सखि-
मडल में सुरन की सभा अवरेखिये ॥
किधौं पिय जुगुति अखडता के खडिये को
खडन को 'केसव' तरकफुल लेखिये ।
दीनी दूनी कला बिधि तेरे मुख चंद को सु-
न्याय ही अकास चंद मंददुति देखिये ॥ ९३ ॥

हे प्यारी राधिका ! यह तेरी छोटे-दंत-युक्त सुगन्धित, सीधी (टेढ़ी नहीं) और नवीन बत्तीसी है या बत्तीसों शुभ लक्षणों की मूर्तियाँ ही हैं। वह बत्तीसी कुछ कुछ लाल बत्तीसी है या शशि-मण्डल पर देव-सभा एकत्र हुई है, या प्रियतम (नायक श्रीकृष्ण) की अखड प्रेम-युक्ति के खडन करने के लिये 'खडन' की समस्त तर्क-युक्तियाँ हैं। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि तेरे मुख-चन्द्र को ब्रह्मा ने दूनी (बत्तीस) कलायें दी हैं, इसीसे आकाश में सोलह कला वाला पूर्ण चन्द्रमा भी तेरे सामने मंदद्युति रहता है।

पुन 'केशव' की काव्य-कला देखिये—

कवित्त ।

कैधौं कली बेला की चमेली सी चमक परै
कैधौं कीर कमल में दारिम दुराये हैं।
कैधौं मुकुताहल महावर में राखे रँगि
कैधौं मनि-मुकुर में सीकर सुहाये हैं ॥
कैधौं सातौ-मडल के मडन मयक मध्य
बीजुरी के बीज सुधा सींचि कै उगाये हैं।
'केसोदास' प्यारी के बदन में रदन छवि
सोरहौ कला की काटि बत्तिस बनाये हैं ॥९४॥

यह राधिका की बत्तीसी है या ये बेला की कलियाँ हैं जो चमेली की कलियों के समान चमकती हैं (बेला की कली छोटी और गोल, चमेली की कली अधिक कांति-मय), या किसी शुक ने कमल में अनारदाने छिपाकर रखे हैं, या किसी ने मोतियों को महावर में रँगकर रख दिया है, या मणि-मुकुर में ओस-बूंद हैं, या सातों ग्रहमंडल के भूषण-रूप शशिमंडल में बिजली के बीज सुधा से सींचकर उगाये गये हैं। 'केशव' कहते हैं कि प्यारी के मुख की रदन-छवि ऐसी जान पड़ती है मानो ब्रह्मा ने चन्द्रमा की सोरह कलाओं को दो दो टुकड़ों में काटकर ये बत्तीसों दाँत बना दिये हैं।

(१६) नखच्छत।

'दीन' की उक्ति सुनिये। कुच-संधि पर नख-च्छत देख कवि का अनुमान है—

कवित्त।

कैधौं संभु हीय पै विराजो आय बाल बिधु
कैधौं चित्रकूट में सुछवि धनुसीता की।
कैधौं बाज चंगुल चलायो चक्रवाकन पै
कैधौं रेख हाथी कुंभ अंकुस गड़ो ताकी॥
कैधौं हेमकूट सधि दीख कवि 'दीन' यह
चंद्राकार आछी मरववेदी काम होता की।
कामिनी के कुच पै लगो है नखछत किधौं
गद्दर अनार पै लगी है चोंच तोता की॥ ८५॥

यह नखच्छत है, या शंभु के हृदय पर बाल विधु आ विराजा है, या चित्रकूट पर धनुष-नाला है, अथवा किसी बाज ने चक्रवाकों पर चंगुल चलाया है, या करिकुंभ पर अंकुश का घाव है, या दो सुवर्ण-पर्वतों के बीच में कामहोता की सुन्दर यज्ञवेदी है, या गदराये हुए अनार पर किसी तोते ने चोंच मारी है।

नोट—धनुघोला = चित्रकूट में एक टेढ़ा-मेढ़ा नाला है जिसका नाम धनुषनाला है, जैसा 'रामायण' में लिखा है—

सघन दीख पय उतरि करारा। चहुँ दिसि फिर्यो धनुष जिमि नारा॥
—तुलसी।

पुन सुनिये—

कवित्त।

सुरति समर करि प्यारी अलसात अंग
बैठी निज अटा छवि छटा लगी छहरान।
नखछत सहित उरोजन प टपकत
स्वेद-बुंद अरु कारे बेस लगे लहरान॥
सो छवि बिलोकि कवि 'दीन' जोग्यो उपमान
सोचत ही उकति अनोखी यह ठहरान।
मानो लखि घटउचकत अवसान रन
रोय रहे पांडव मुदित नाचि रहे कान॥ ९६॥

सुरति के अनन्तर नखच्छत-सहित कुचों पर लटें लटकी हुई लहरा रही हैं और मुख-मण्डल से पसीने की बूँदें टपक रही हैं। इस छवि का वर्णन है कि मानो घटोत्कच रण में घायल हो गया है, पांडव रो रहे हैं और कृष्ण नाच रहे हैं। (कुच घटोत्कच, मुखमंडल पांडव और लटें कृष्ण जानो)।

* 'महाभारत' में घटोत्कच के मारे जाने पर पाण्डवों के रोने तथा कृष्ण के प्रसन्न होने की कथा पढ़िये।

'केशव' की उक्ति सुनिये—

सवैया।

भोर जगी वृषभानुसुता अलसी बिलसी निसि कुंज बिहारी।
'केसव' पोंछति अंचल ओरन पीक सु लीक गई मिटि कारी॥
बंक लगे कुच बीच नखच्छत देखि भई दृग दूनी लजारी।
मानो वियोग बराह हन्यो युग शैल की सन्धिनि दुर्गव डारी
॥ ९७ ॥

कुच-संधि में कई नखच्छत लगे हैं। उन्हें देख नायिका लज्जित हुई। केशव को यह अनुमान हुआ मानो वियोग-वाराह ने कुच-रूपी दो पहाड़ों के बीच में अपनी धीरों से आघात किये हैं।

'पजनेश' की पंडिताई देखिये—

सवैया।

छूटी चिकै परी प्यारी जहाँ परजंक ते फैलि रही प्रभा भू पर।
लै बरजोरी करी 'पजनेस' दसीकार सी तसबीर वधू पर॥
देख री पीन पयोधर पै नख लागे लला ललचात लिहू पर।
मानो खराद चढ़े रवि की किरनै गिरी आनि सुमेरु के ऊपर
॥ ९८ ॥

नखच्छत देखकर 'पजनेश' अनुमान करते हैं कि ये नखच्छत ऐसे जान पड़ते हैं मनो खराद पर चढ़ाये हुए सूर्य की किरणें छिटककर सुमेरुगिरि पर आ पड़ी हैं।

पुराणों में कथा है कि किसी समय सूर्यदेव खराद पर चढ़ाकर खरादे गये थे। खराद से उतारे हुए छिलके टेढ़े हो जाते हैं। इस अनुभव का उपयोग कवि ने बहुत ही उपयुक्त प्रसङ्ग में किया है।

(१७) नजाकत।

सुकुमारता पर हिन्दी कवियों की उड़ान देखिये। एक कवि कहता है—

दोहा।

तुव पदतल मृदुता चितै कवि बरनत सकुचाहिँ।
मन तें आवत जीभ लौं मति छाले परि जाहिँ॥ ९९॥

तेरे तलवों की नजाकत देखकर कवि लोग वर्णन करते सङ्कोच करते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि उस वर्णन को मन से जीभ तक लाते लाते तेरे तलवों में छाले न पड़ जायँ। केवल वर्णन के सफ़र से छाले पड़ जाना गज़ब की नजाकत है।

पुनः सुनिये—

दोहा।

जो वाके सिर पै परै छाँह सुमन की आय।
तौ बलि ताके भार सो लंक लचक ह्वै जाय॥ १००॥

उस सुकुमारी पर यदि कहीं फूल की छाया पड जाय तो उसके भार से (छाया के भार से) उसकी कमर टेढी हो जाती है।

'विहारी' कहते हैं—

दोहा।

भूपनभार सँभारि है क्यो वह तन सुकुमार।
सूचे पाँय न परत धर सोभा ही के भार ॥ १०१ ॥

वह इतनी सुकमारी है कि शोभा ही के भार से उसका पैर ज़मीन पर सीधा नहीं पडता (वह डगमगाती है) तो भला भूपणों का भार, वह कैसे सँभालेगी? व्यग यह है कि वह अत्यत रूपवती है (भूपणों की जरूरत नहीं), सुकुमार इतनी हे कि शोभा का भार उससे नहीं सँभलता तो अन्य भार की वात क्या कही जाय।

पुनः देखिये—

दोहा।

काहि छला पहिराव री हौं वरजी वहु वार।
जाय सह्यो नहि वावरी मेहँदी रँग को भार ॥ १०२ ॥

मेंहदी के रग का भार नहीं सहा जाता, मैंने कई वार समझाया कि तू मुझे छला क्यों पहनाती है।

'विहारी' पुनः कहते हैं—

दोहा।

हौं वरजी कै वार तू उत कत लेत करौंट।
पखुरी लगे गुलाब की परिहै गात खरौंट ॥ १०३ ॥

मैने कितनी बार तुझको मना किया कि तू उधर को करवट न ले, पर तू मानती नहीं। मुझे क्या करना है, जब गुलाब की पँखुरी लग जायगी और शरीर में खरोंच हो जायगी तब मानेगी।

गुलाब की पँखुरी से खरोंट लगना कैसी अद्भुत सुकुमारता है।

पुन. एक कवि कहता है—

दोहा।

ऐसी है सुकुमारता वा ती में यदुराय।
मेहँदी-रँग के भार सो पाय सकै न उठाय॥ १०४॥

हे यदुराज (कृष्ण), वह तुम्हारी प्यारी इतनी सुकुमारी है कि मेंहदी के रंग के भार से वह पैर नहीं उठा सकती।

पुन वैसी ही बात सुनिये—

दोहा।

कुंजभवन लौं आवते कैसे सकि है आय।
जावक-रँग भारन भटू मग धरि सकति न पाय॥ १०५॥

हे प्यारे! वह सुकुमार प्यारी कुंज-भवन तक कैसे आ सकेगी, वह तो महावर के रंग के भार से चल ही नहीं सकती। इतनी नाजुक है!

अरसिक जनों को इन सब कवियों का कथन प्रलाप सा जँचेगा। उनके लिये हमारा यह संग्रह है भी नहीं। रसज्ञ जन इन उक्तियों के कमाल को देखेंगे और आनन्द पावेंगे।

(१८) नाभी।

'कालीदास' जी कहते हैं—

कवित्त।

राजत गंभीर रूमावली वन तीर मन
तीर पहुँचे ते भूले त्रिवली डगर में।
भूरि भौंर भारी छवि छलक सिंगार पानी
'कालीदास' देखत ही भँवरन भरमें॥
ऊजी नेक ही मे डूबि गई लरिकाई तातें
रहिये छपाये सखी बाहर नगर मे।
चंचल गोपाल खेलैं गोकुलकी गली बीच
बड़ी करवर तेरे नाभी-सरवर में॥ १०६॥

ऊजी = हौसिले-मद, उमग-पूर्ण। करवर = खतरा, भय।

कोई अल्हड़ नवयुवती चलते समय नाभि छिपाने में बेपरवाही करती है। इसपर सखी कहती है कि रोमावली-रूपी गहन वनस्थली के निकट यह तेरी नाभि का सरोवर, स्थित है, मन वहाँ पहुँचकर त्रिवली के तीन मार्गों में भूल जाता है। इस नाभि-सरोवर में कई भँवर पड़ते हैं, सिंगार का पानी है और छवि की छलकन है, देखते ही मन उसके भँवरों में पड़कर चक्कर खाने लगता है। उमँगती हुई लड़िकाई उसमें डूब गई है (चंचल लड़कपन जाता रहा, अब तू युवती हो चुकी है), अतः हे सखी, घर बाहर (सब जगह) इसे छिपाये

रहा कर। चचल गोपाल (बालक) इस गोकुल गाँव की गलियों में बेपरवाही से खेलते फिरते हैं (कहीं ऐसा न हो कि वे इस सरोवर में गिरकर डूब जायें)। हे सखी, तेरी नाभि के सरोवर में बड़ा भय है।

इस कवित्त में काव्य के समस्त गुण मौजूद हैं—

(१) वस्तु-वर्णन, (२) कहने का प्रिय और विलक्षण ढंग, (३) छोटी बात को बढ़ाकर कहने की सामग्री, (४) सुन्दर उपदेश, (५) प्रभाव-जनकता। पढ़ते ही नाभि का प्रभुत्व चित्त पर प्रभाव जमाता है, (६) आनन्द-दायकत्व, (७) प्राकृतिक-सौन्दर्य-प्रदर्शन।

(१९) नासिका (भूषणादि)।

नासिका का वर्णन सुनिये—

दोहा।

छकि छकि तुव नाक सों यों पूँछत सब गाउँ।
किते निवासिन नासि कैं लियो नासिका नाउँ॥ १०१॥

तेरी नासिका पर मोहित हो होकर सारा गाँव यह बात पूँछता है कि कितने नगर-निवासियों का नाश करके इसने नासिका नाम पाया है।

निरुक्ति अलंकार ने इस दोहे को खूब चमका दिया है।

नासिका में नीलम-जटित सींक (लौंग) है। इसपर 'विहारी' की बात सुनिये—

दोहा।

जटित नीलमणि जगमगत सींक सुहाई नाक।
मनो अली चंपककली बसि रस लेत निसांक ॥ १०८ ॥

नीलम-जटित सींक नाक में शोभा दे रही है, वह 'विहारी' को ऐसी जान पडती है मानो चंपक-कली पर बैठा हुआ भौंरा निःशंक हो रस ले रहा है।

चंपककली पर भौंरे का बैठना अनहोनी बात है। असंभव घटना की संभवनीयता कथन करके 'विहारी' ने नाक की अकथनीय शोभा को प्रकाशित किया है। यह अत्युक्ति से भी बढी हुई अत्युक्ति है। ऊँची उडान है। लोग विहारी पर प्रकृति-विरुद्ध वर्णन करने का दोषारोपण व्यर्थ करते हैं।

वेसर-सहित नासिका का वर्णन 'आलम' के मुख से सुनिये—

कवित्त।

प्यारी तन भूमि तामें रूपजल सागर है
जोवन गँभीर भौंर सोभा को धरत है।
दीपति तरंग नैन वारिज से डोलैं तहाँ
उरग सी वेनी जिय देखत डरत है॥
'आलम' कहत मुख कहर गहर राजै
तामें मन मेरो यह दौरि कै परत है।
वेसर को मोती मानो कर है सिकन्दर को
बार बार झूमि झूमि मने सो करत है॥ १०९॥

प्यारी के शरीर की भूमि में रूप का समुद्र है, यौवनावस्था ही गभीर भँवर है, दीप्ति (कान्ति) की लहरें हैं, नेत्र ही कमल हैं, सर्प सी वेणी है जिसे देखकर जी डरता है, मुख ही उस समुद्र का सर्वाधिक गहरा भाग है। मेरा मन उस गहरे भाग में बार बार जा पड़ने को चाहता है, पर वहाँ वेसर का मोती ही सिकन्दरी ध्वजा है, वह हिल हिलकर मना करता है कि इधर खतरा है, यहाँ मत आना।

नोट—सिकन्दर ने समुद्र के गहरे खतरनाक स्थानों पर ध्वजायें स्थापित की थी जिनको देखकर जहाजी उधर नहीं जाते थे। इसका वर्णन अनेक कवियों ने किया है।

(२०) नेत्र ।

उपमा नैनन एक रही।
कविजन कहत कहत सब थाके सुधि कर नहीं कही ॥ ११०॥
नहिं चकोर विधुमुख विन जीवत भवँरहु नहीं लखात।
हरिमुख कमलकोश तें बिछुरे अनतै कत ठहरात ॥१११॥
ऊधो वधिक व्याध ह्वै आये मृग सम क्यों न परात।
भागि जाहिँ वन सघन स्याम में जहाँ न कोऊ घात ॥११२॥
खजन मनरंजन न होहिँ ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
पख पसारि न होहिँ चपलगति हरि समीप उड़ि जात
॥ ११३

कमल न होहिं कौन विधि कहिये झूठे हीं तनु आड़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि कबहुँ न छाँड़त ॥११४॥

व्रज की विरहिनी गोपिका के मुख से 'सूरदास' जी कहलाते हैं कि कृष्ण के वियोग में नेत्रों का केवल एक उपमान ठीक जँचता है, बाकी सब झूठे जान पड़ते हैं।

नेत्रों की केवल एक उपमा रह गई। कवियों ने कही हैं बहुत सी उपमायें, पर कहते समय उन्हें ध्यान नहीं रहा। ये नेत्र चकोर नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कृष्ण के मुखचन्द्र बिना भी ये जीवित हैं। ये भँवर भी नहीं जान पड़ते, क्योंकि कृष्ण के मुख-कमल से बिछुड़-कर भी ये अन्यत्र कैसे ठहरते हैं। ये मृग भी नहीं हैं, क्योंकि ऊधव हत्यारा व्याध आया देखकर ये क्यों नहीं सघन श्याम वन में भाग जाते। ये खजन भी नहीं हैं, क्योंकि ये हरि के निकट नहीं उड़ जाते। ये कमल भी नहीं हैं, क्योंकि ये तो व्यर्थ ही शरीर में आड़ (डंक) की तरह गड़ते हैं। हाँ, केवल मछली का गुण इनमें कुछ कुछ है, क्योंकि ये जल से कभी अलग नहीं होते (सदैव अश्रु-पूर्ण रहते हैं)।

बड़ी अनोखी उक्तियाँ हैं। स्वय विचारिये हैं कि नहीं?

'सूरदास' जी की एक दूसरी उक्ति सुनिये। आप कहते हैं कि—

नँदनंदन के बिछुरे अँखियाँ उपमा योग्य नहीं।
कंज खंज मृग मीन न होहीं कबिजन वृथा कहीं ॥ ११५ ॥

कज होति मुँद जाति पलक में जामिनि होत जहीं।
खञ्ज होति उड़ जाति छिनक मे प्रीतम जित तितहीं ॥ ११६ ॥
मृग होती रहतीं निसिवासर चन्द्रवदन ढिगहीं।
रूप-सरोवर ते बिछुरे कहु जीवत मीन कहीं ॥ ११७ ॥

अर्थात् कृष्ण के वियोग में नेत्र ऐसे हो गये कि इनका कोई उपमान नहीं मिलता। जितने उपमान कवियों ने कहे हैं वे सब व्यर्थ से जान पड़ते हैं। यदि ये आँखें कमल होतीं तो रात्रि होते ही मुँद जातीं (रात्रि को नींद आती, विरह में नींद नहीं आती हैं), यदि खञ्जन होतीं तो प्रियतम के पास उड़ जातीं, मृग होतीं तो चन्द्र-वदन कृष्ण के निकट ही रहतीं (चन्द्रमा मृगलाञ्छन कहाता है, उसे छोड़ वह मृग कहीं अन्यत्र रह नहीं सकता), यदि ये मीन होतीं तो रूप-सरोवर (कृष्ण) से वियुक्त होकर ये कैसे रहतीं।

आँखों के तीन रङ्गों (सफेद, तारा और काला) के विषय में 'दीन' की उक्तियाँ देखिये—

कहो तो आज कह दूँ आपकी आँखों को क्या समझे।
सिता सिंदूर मृगमद युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे ॥ ११८ ॥
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे ॥ ११९ ॥
न हो सतोष इसपर भी तो उपमा तीसरी सुन लो।
युगल-पद-धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋगु की ऋचा समझे ॥ १२० ॥

दवा कैसी, सुधा क्या है, ऋचा की बात जाने दो।
हँसी अनुराग-युत, शृंगार रस की भूमिका समझे ॥ १२१ ॥

न मानो भूमिका तो पाँचवीं उपमा बता देवे।
सकल जग तारने के हित त्रिवेणी की धरा समझे ॥ १२२ ॥

कहिये तो आज बतला दें कि हम तुम्हारी आँखों को क्या समझे हुए हैं। अच्छा सुनो—मिसिरी, सिन्दूररस और कस्तूरी से बनी हुई कोई अद्भुत दवा समझे हैं। इसे न मानो, तो दूसरी उपमा सुनो। शराब और विष से मिला हुआ अमृत समझे हुए हैं। इसे भी न मानो, तो तीसरी उपमा सुनो। सत, रज, तममय दो चरणवाली ऋग्वेद की ऋचा समझे हैं। यदि ये उपमान न जँचें तो और सुनो। हास्य, अनुराग और शृङ्गार की भूमिका समझे हैं। यह भी न मानो तो पाँचवी उपमा सुनो। सारे संसार को मोक्ष देनेवाली त्रिवेणी की भूमि समझे हुए हैं।

स्मरण रहे कि इन उक्तियों में उन्हीं तीन रङ्गवाली वस्तुओं का वर्णन है, जो आँखों में होते हैं, अर्थात् लाल, सफ़ेद और काला।

पाठक स्वयं विचारें कि उक्तियाँ कैसी हैं।

और आगे सुनिये—

त्रिवेणी की धरा सिकता-मयी, ये हैं रसिकता-मय।
मकरगत मंद-मंगल-चंद्र की शुभदा छटा समझे ॥ १२३ ॥
भला इन अँखड़ियों से इस छटा की तुल्यता कैसी।
जगत को मोहने वाली त्रिदेवों की प्रभा समझे ॥ १२४ ॥
त्रिदेवों की प्रभा भी सामने इनके नहीं जँचती।
सरी त्रिगुणात्मिका माया की द्व्यर्थक फक्किका समझे ॥१२५॥
भला इस फक्किका से और इन आँखों से क्या संगत।
सुविद्या एक को अपरा तो दूजी को परा समझे ॥ १२६ ॥

नही कहते बनी उपमा भुलावे मे पड़े हम भी ।
सदा ही 'दीन' हितकर राम-सीता की दया समझे ॥१२७॥

त्रिवेणी की भूमि तो सिकतामय (रूखी) है, पर ये आँखे रसिकतामय हैं, यही इनमें खूबी है। यह भी न मानो तो यों समझो कि इन आँखों को हम मीन-लग्न-गत शनि, मङ्गल और चन्द्रमा समझे हैं।

इसको भी जाने दो, और सुनो। संसार को मोह में डाले रहनेवाले त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की आभा ही समझे हैं। यह उपमा भी न जँचे तो त्रिगुणात्मिका माया की दो अर्थ वाली फक्किका समझे हुए हैं। अब रङ्गों का जिक्र छोडकर केवल दोनों आँखों की उपमा देते हैं। तुम्हारी दोनों आँखों को हम परा और अपरा विद्या समझे हुए हैं। यह भी उपमा न कहते बनी, तो लो, सत्य तो है कि हम तुम्हारी दोनों आँखों को श्रीसीता और राम की दया ही समझे हुए हैं (जो हमें अत्यन्त प्रिय है)।

ये तीनों रङ्गों और दो आँखों के वर्णन (पञ्चामृत) का मजा पाठक ले और इस 'दीन' को आशीर्वाद दे ।

'मौन' कवि की वाचालता देखिये—

कवित्त ।

बार बार कोयन कनौती बदलत बर
बिमल बिशाल भाल छिति पर फेरे है।
चूकत न घाय भरे चौकरी चलायबे में
चतुर चराक चित्त चातुर के चेरे है॥

'मौन' कवि कहै बाग भौंहन के ठाँमे नेक
नाचत नटा से नट निठिठु निवेरे हैं।
मैन आतुरी से उड्यो चाहे चातुरी से बीर
करत खुरी से ये तुरी से नैन तेरे हैं॥ १२८ ॥

तेरे नेत्र तुरङ्ग हैं। बार बार इधर-उधर कटाक्ष फेंकते हैं यही कनौती बदलना है। भाल-रूपी भूमि पर फेरे गये हैं। चौकड़ी भरने में चूकते नहीं, पर चतुर से दबते हैं। भौंह-रूपी बाग कड़ी करने से नट की तरह नाचते हैं। काम की आतुरता से उड़ना चाहते हैं, पर बाग कड़ी होने से उड़ नहीं सकते, अतः ये खुँदी से करते हैं। इसीसे ये तुरङ्ग हैं।

'यथासङ्ख्य' अलङ्कार का कमाल दोहे में देखिये—

दोहा।

भौं चितवनि डोरे बरुनि असि कटार फंद तीर।
कटत फटत बधत बिंधत जिय हिय मन तन बीर॥१२९॥

हे बीर, तेरी भौंहें, चितवन, आँख के डोरे और बरुनी क्रम से तलवार, कटार, जाल और तीर हैं, जिनसे प्रेमियों के जी, हृदय, मन और तन क्रम से कटते, फटते, बँधते और बिद्ध होते हैं।

'बीर' शब्द के श्लेष ने क्रमालङ्कार में और भी चमत्कार पैदा कर दिया है। यह कवि का कमाल है।

साथ ही 'रसलीन' का कमाल भी देखिये—

दोहा।

अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥१३०॥

तेरे नेत्रों में अमृत, जहर और मद भरा है, क्योंकि इनमें तीन रङ्ग हैं—सफेद, काला और लाल । इसी कारण जिसको तू एक बार देख लेती है उनमें से कोई जी जाता है, कोई मर जाता है और कोई मतवाले की तरह डगमगा कर गिर जाता है (तीनों वस्तुओं के रङ्ग और प्रभाव प्रत्यक्ष हैं) ।

ये दोनों दोहे हिन्दी-साहित्य के अनमोल रत्न हैं ।

स्वयम्बर की रङ्गभूमि में सीताजी खड़ी हैं । रामजी ऊँचे मञ्च पर बैठे हैं । सीताजी उनकी ओर देखकर भूमि की ओर देखने लगती हैं । इसपर तुलसी बाबा कहते हैं—

दोहा ।

प्रभुहि चितै पुनि चितै महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन युग जनु बिधु मंडल डोल ॥ १३१ ॥

श्रीरामजी की ओर देखकर पुन लज्जा-वश होकर भूमि की ओर देखने लगती हैं । जानकी के नेत्र इस प्रकार चञ्चल हो रहे हैं । उस समय उनकी आँखों की उपमा मुझे ऐसी जँची मानो काम की दो मछलियाँ चन्द्र-मण्डल पर हिंडोला झूल रही हों ।

वास्तव में अनोखी उक्ति है । समझिये, अनुमान कीजिये और मज़ा लीजिये ।

एक कवि नेत्रों में ही फाग का सामान देखता है । सुनिये—

दोहा ।

असित सेत लोहित लसत चोवा अबिर गुलाल ।
पिचुका कुटिल कटाच्छ सो नैननि माच्यौ ख्याल ॥ १३२ ॥

आँखों की काली पुतली चोवा की शीशी है, सफेदी ही अबीर है, और ललाई ही गुलाल है। कुटिल कटाक्ष ही पिचका है। इस प्रकार प्यारी के नेत्रों में बारहों मास फाग का खेल मचा रहता है।

क्यों नहीं, कवि सदैव आनन्द, सौंदर्य और माधुर्य के देश में ही विचरता है। यही कवि की पहचान है।

'पद्माकर' जी आँखों का महत्व यों बताते हैं—

कवित्त।

रूपरस चाखें मुख रसना न राखें फेर
भाषै अभिलाखें तेज उर से सम्हारतीं।
कहै 'पद्माकर' त्यों कानन बिना हू सुनै
आनन के बैन यो अनोखे अग धारतीं॥
बिना पाँव दौरैं बिन हाथ हथियार करैं
कोर के कटाच्छन पटा से भूमि झारतीं।
पाँखन बिना ही करैं लाखन ही वार आँखैं
पावतीं जो पाँखे तो कहा धौं कर डारतीं॥१३३॥

बिना मुख और जीभ के सदा रूपरस चक्खा करती हैं, हृदय की तेज अभिलाषा को कह भी डालती हैं। बिना कानों के ही सुनती हैं, औरों के वचन सुनकर ग्रहण करती हैं। बिना पैर ही दौड़ती हैं। बिना हाथ ही हथियार करती हैं, कटाक्षों की पटेवाजी भी करती हैं। पंख न होने पर भी लाखों वारे करती हैं। यदि इन आँखों को कहीं पंख मिल जाते तो ये न जाने क्या कर डालतीं।

विनोक्ति अलङ्कार द्वारा अद्भुत रस का पुट देते हुए आँखों के महत्त्व के साथ ही साथ कवि ने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

एक कवि नेत्रों को नवाब साहब समझता है। सामान देखिये—

कवित्त।

सोजनी चिकन की बिछाये डोरे लाल लाल
तकिया महातम के शोभा दरबार हैं।
चचल चितौनि अर्ज बेगी बेगि आवै जाय
बरुनी दुवार आगे ठाढे चोबदार हैं॥
बकसी दिवान दोऊ कोये कान लागत हैं
अंजन के दसखत सिद्ध कारबार हैं।
लाज औ सकुच ये हुजूर में खवास खासे
प्यारी तेरे नैन ये नवाब नामदार हैं॥ १३४॥

हे प्यारी, तेरे नेत्र बड़े नामी नवाब हैं, क्योंकि लाल डोरे ही चिकन की सुजनी (एक प्रकार का बिछौना) है, माहात्म्य के तकिये हैं, शोभा ही उनका दरबार है, चञ्चल चितवन ही अर्जबेगी है, बरुणी ही चोबदार है। दोनों नेत्रों के दोनों छोर ही बकसी और दीवान हैं, क्योंकि ये कान में लग कर बातें करते हैं। इस दरबार में काजल से ही दस्तखत होते हैं। लज्जा और सकोच ये ही खिदमतगार हैं इस सामान से मैंने जाना कि तेरे नेत्र नवाब हैं।

लीजिये, 'श्रीपति' कवि नेत्रों ही में चौदह रत्न दिखलाये देते हैं। अब भी कवियों का कमाल न मानियेगा? सुनिये—

कवित्त।

सौतिन को बिष से पियूष से सखी जन को
रसिकन रंभा औ रमा से रक्तन हैं।
मोहन को मद से मतंग से गरुरिन को
चंचल तुरी से मन हरिबे को मन हैं॥
कबिन को कामधेनु कलपतरु दीनन को
'श्रीपति' को सख दुष्ट हित सरासन हैं।
ससि से सरोजन की रोगिन धनतर से
प्यारी तेरे चख हैं कि चौदहौ रतन हैं॥ १३५॥

हे प्यारी, तेरे नेत्र हैं कि चौदहों रत्न हैं। सौतों के लिये ये 'विष' से हैं, सखी-गण को 'अमृत' से जान पड़ते हैं। रसिक-जनों के लिये 'रंभा' और 'रमा' के समान अनुरागी हैं (रक्तन = लाल और अनुरागी)। मोहन शक्ति में "मद" सम हैं। मगरूरी मनुष्यों को 'मतङ्ग' (ऐरावत) सम हैं। 'उच्चैश्रवा' समान चञ्चल हैं, और 'मणि' के समान मनोहर हैं। कवियों के लिये "कामधेनु", दीनों के हित 'कल्पवृक्ष', श्रीमान निज पति के लिये 'शङ्ख' सम (सर्व-सुख-दाता, विजयदाता) हैं और रोगियों को 'धन्वन्तरि' के समान हैं।

'श्रीपति' शब्द का श्लेष बड़ा मज़ेदार है। उक्ति बड़ी ही अनूठी है।

'आलम' कवि तो 'श्रीपति' से भी बाजी मार ले गये। 'श्रीपति' ने प्रभाव बतलाते हुए उपमा का सहारा लिया है। 'आलम' ने वस्तु-वर्णन करते हुए रूपक से काम लिया है। देखिये—

कवित्त।

सेत धरा विधु जोति अंजन जहर सजि
वक्र धनु अरुन सुमनि सँग लाये हैं।
प्रेम सुरा सुधे धेनु सुंदर समान रंभा
'आलम' चपल हय कान के सधाये हैं॥
प्रीति मधु पूतरी कलप लच्छी पूरन ध-
नतरि सुदिष्ट गज गति पलटाये हैं।
काहे को समुद्र मथि देवतान कीन्हो श्रम
चौदह रतन तिय नैनन में पाये हैं॥ १३६॥

देवताओं ने समुद्र-मंथन में व्यर्थ ही परिश्रम किया, चौदह रत्न तो स्त्री की आँखों ही में पाये जाते हैं। देखिये, सफेदी ही 'शंख' है, कान्ति ही 'चन्द्र' है, काजल ही 'जहर' है, कुटिल कटाक्ष ही 'धनुष' है, अरुणता ही 'मणि' है, प्रेम ही 'सुरा' है, सुधापन ही 'कामधेनु' है, सौंदर्य ही 'रंभा' है, चञ्चलता ही 'उच्चैश्रवा' घोड़ा है, प्रीति ही 'अमृत' है, पुतली 'कल्पवृक्ष' है पूर्णता (विशालता) ही 'लक्ष्मी' है, दृष्टि ही 'धन्वन्तरि' है, उनके पलटने की गति ही 'गज' (ऐरावत) है—जिस ओर पलट पड़ती है सबको कुचल डालती है।

ये आँख में चौदहों रत्न दिखलानेवाले दोनों कवि और दोनों कवित्त हिन्दी-साहित्य के रत्न हैं। साहित्य-जौहरी इन्हें परखें और मोल लगावें।

अब 'रसनिधि' की उक्तियों का मजा लीजिये। नेत्रों का 'नयन' नाम क्यों पड़ा? क्योंकि इनमें नय (नीति) नहीं है।

दोहा।

आप लगत बेचत मनहि रसनिधि कर बिन दाम।
नैनन में नय नाहिंयै याते नयना नाम ॥ १२७ ॥

लगते हैं आप और रसिक के हाथों बेदाम ही मन को बेंच देते हैं। इनमें नीति-बल नहीं है, इसीसे इनका नाम नयन (नय+न) पड़ा है।

पुनः सुनिये—

दोहा।

कजरारे दृग की घटा जब उनवै जेहि ओर।
बरसि सिरावै पुहुमि उर रूप झलान झकोर ॥ १२८ ॥

कजरारे नेत्रों की घटा जिस ओर उमड़ पड़ती है, बस उस ओर के निवासियों पर रूप (सौंदर्य) के झला बरसाकर उनके हृदय-रूपी भूमि को ठण्डक से तृप्त कर देती है।

पुन—

दोहा।

इननैं ह्वै दरसात है हरि मूरति की लोइ।
याते लोइन कहत हैं इन सो मिलि सब कोइ ॥ १२९ ॥

हरि-मूर्ति की लौ (झलक) इन्हीं नेत्रों द्वारा दरसती है, इसीसे सब लोग इन्हें 'लोइन' (लोयन) कहते हैं।

नेत्रों की विशालता, बल और महत्ता देखिये—

दोहा।

तीनि पैड जाके लखौ त्रिभुवन में न समाहिं।
धनि राधे राखति तिन्हैं लोयन कोयन माहिं ॥ १४० ॥

जिस व्यक्ति के तीन डग तीनों लोकों में न अट सके, उसीको तू इन नेत्रों के कोने में रखती है। हे राधिका! तू धन्य है।

प्रेमी के नेत्रों को प्रियतमा के दर्शन से क्यों आनद मिलता है! कारण सुनिये। 'रिस' में खटाई होती है, दही भी खट्टा होता ही है।

दोहा।

रिस रस दधि सक्कर जहाँ मधु, मधुरी मुसक्यान।
घृत सनेह छबि पय करैं दृग पचामृत पान ॥ १४१ ॥

प्रियतमा के दर्शन से प्रेमी के नेत्रों को पञ्चामृत पीने को मिलता है, कैसा पञ्चामृत जिसमें रिस का दही, रस (प्रसन्नता) की शक्कर, मधुर मुस्कानि की शहद, अनुराग का घी और छवि (सौंदर्य) का दूध होता है। यह पञ्चामृत नेत्रों को खूब पीने को मिलता ह, इसीसे ये दर्शनों के प्यासे रहते हैं।

दोहा।

फोरत, बाने, ढाल को तनक लगाये मैन।
अचरज कह भेदै जु मन मैन भरे सर नैन ॥ १४२ ॥

मैन = मोम। मैन = काम।

ढाल में मोम लगाने से बाण उस ढाल को छेद डालता है। तो इसमें अचरज ही क्या है यदि मैन-लगे मन को (काम-पूर्ण मन को) नैन-बाण छेद डालें।

बेशक काम पूर्ण मन किसी काम का नहीं। प्रेम वा सौंदर्य-पूजन निष्काम ही होना चाहिये।

पुन 'रसनिधि' की बात सुनिये—

दोहा।

हीरा बिनु हीरा कनी कहूँ न बेधी जाय।
सो हीरा तुव दृग कमल सहजै बेधत आय॥ १४३॥

कायदा यह है कि हीरा हीरा-कनी के बिना नहीं छेदा जा सकता, पर यह बड़े अचरज की बात है कि तेरे नेत्र-कमल (अति मृदु) मेरे हीरा (हियरा, हृदय) को बेधते हैं। (

नेत्रों का नाम 'लोचन' क्यों है, कारण सुनिये। 'रसनिधि' जी कहते हैं—

दोहा।

निसिबासर लोचत रहत अपनहु मन अभिराम।
याते पायो रसिकनिधि इनने लोचन नाम॥ १४४॥

मेरे सुन्दर मन को (तेरे नेत्र) अपने नाखूनों से लोचते (नोचते) रहते हैं, इसीसे इनका नाम लोचन पड़ा है।

अपनहु = अपने नख से।

'नेत्र' को लोयन (लोइन) भी कहते हैं। यह नाम क्यों पड़ा 'रसनिधि' जी इसका कारण बतलाते हैं—

दोहा।

लौ इनकी लागी रहै निज मन मोहन रूप।
ताते इन रसनिधि लह्यौ लोइन नाम अनूप॥ १४५॥

इन नेत्रों की लौ (लगन) अपने मनमोहन के रूप से लगी रहती है, इसीसे इन्होंने लोइन (लोयन) नाम पाया है।

अब 'आँखें' नाम की व्युत्पत्ति सुनिये—

दोहा।

जो कुछ उपजत आय उर सो वे भाखे देत।
रसनिधि आँखें नाम इन पायो अरथ समेत॥ १४६॥

मन में जो भावना उत्पन्न होती है उसे ये मानो कहे सा देती हैं, अत इनका 'आँखें' नाम सार्थक ही है।

आखना = कहना।

पुन 'रसनिधि' जी 'चख' शब्द का अर्थ करते हैं—

दोहा।

और रसन लै जानही रसना हू अभिराम।
चाखत जो पै रूपरस याते है चख नाम॥ १४७॥

अन्य रसों का स्वाद तो जीभ भी लेना जानती है, पर रूप-रस का चखना केवल ये नेत्र ही जानते हैं, इसीसे इनका नाम 'चख' पड़ा है।

पुन 'रसनिधि' जी नेत्रों को पल्लेदार (नाज ढोने वाला मजूर) बनाते हैं—

दोहा।

पल पल्लौ भर इन लियो तेरो नाज उठाय।
नैन हमालन दे अरे दरस मजूरी आय ॥ १४८ ॥

हे प्यारे! इन मेरे नेत्र-हम्मालों (नाज ढोनेवाला मजूर) ने पलपल्ले (नाज बाँधने का कपडा) में भरकर तेरा नाज (फारसी नाज = हाव-भाव-मय चेष्टाएँ) उठा लिया है, अत अब इनको दर्शन-रूपी मजूरी दे।

'नाज' शब्द श्लिष्ट है।

'रसनिधि' की यह रसीली उक्ति पढिये। कहते हैं कि—

दोहा।

साहु कहावत फिरत हैं चित नरसाये चाव।
तेरे नैन दिवालिया मन लै देत न पाव ॥ १४९ ॥

तेरे नेत्र बडे साहूकार कहलाते हैं, पर मेरी सम्मति में तो दिवालिया हैं, क्योंकि लेते तो हैं मन (भर), पर देते पाव (भर) भी नहीं (मन लेकर पास नहीं आते)।

पुन —

दोहा।

छीनी छवि मृग मीन की कहौ कहाँ की रीति।
नामहि में नहिं नीति का करें नयन ये नीति ॥ १५० ॥

इन नेत्रों ने मृग और मीन की छवि छीन ली है, भला यह कहाँ की रीति है (यह भले मानसों की चाल नहीं है)। नयन (नय+न) नाम में ही जब यह अर्थ है तो भला ये नीति का वर्ताव क्या करेंगे।

'गुलाब' कवि राधिका के नेत्रों में दशावतार की झाँकी दिखलाते हैं—

कवित्त।

मीन सम थहरात कठिन कच्छप सम
　　बीने बलि छलिबे को निधै कर नेरे हैं।
जाल ना निहारे हिय फारत बराह सम
　　गिरिबे को परसुराम फिरैं नाहिँ फेरे हैं॥
तीछन नृसिंह नख बोधक अबोधन को
　　तारिबे को राघव 'गुलाब' चित्त मेरे हैं।
मोहिबे को मोहन कलंक बिन निकलंक
　　दसौ अवतार राधे नैनन मे तेरे हैं॥१५१॥

मच्छ की भाँति चञ्चल है, कच्छप समान कठिन है, छलने में वामन-समान छली है, वाराह की भाँति देखने-वालों का हृदय फाड़ते है, भिड़ने में परशुराम से हैं कि हटाये नहीं हटते। नृसिंह के नख-समान तीक्ष्ण हैं, अबोधों को बोध देने के लिये बुद्ध-समान, तारने के लिये राम-सम, मोहने के लिये मोहन (कृष्ण)-समान और कल्कि अवतार की तरह निष्कलङ्क है। अतः हे राधिका, तेरे नेत्रों में दशों अवतारों की झाँकी है।

'सेख' (आलम कवि की पत्नी) स्वयं स्त्री होकर एक अनूठी बात कहती है। पढ़िये और विचारिये। सबेरे कोई स्त्री छींटे दे देकर आँखें धो रही है। उसीपर यह उक्ति है—

कवित्त।

राति के उनींदे अलसाते मदमाते राते
राजे कजरारे दृग तेरे यो सोहात हैं।
तीखी तीखी कोरन अँकोरि लेत काढ़े जिय
केते भये घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यो त्यो लै सलिल धरा 'सेख' धोवै बारबार
त्यो त्यों बल बुदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले कैधौं नाहर नहनवाले
लोहू के पियासे कहूँ पानी ते अघात हैं॥ १५२॥

हे सखी! तेरे ये उनींदे, आलस-युक्त, मदमाते और (रात भर जगने के कारण) लाल और कज्जल-युक्त नेत्र खूब ही अच्छे लगते हैं। तीक्ष्ण कटाक्षों से कोल कोल कर दर्शकों के कलेजे निकाले लेते हैं, कितने ही घायल हो चुके और कितने ही तड़प रहे हैं। ज्यों ज्यों तू पानी के छींटे दे देकर इन्हें धोती है, त्यों त्यों बूँदों के बोझ से बरौनियां झुक

'नृपशम्भु' की उक्ति पढ़िये और मजा लीजिये। मुख को चन्द्रमा और नेत्रों को चन्द्रमा के रथ के मृग मान कर कहते हैं—

सवैया।

लवैं वीरैं चकासी चलैं श्रुति में भृकुटी जुवाँ रूप रही छविछ्वै।
अलकावली डोरी कसी 'नृपशम्भु' जू सूत अनग दई छरी छ्वैं॥
तम साँवरे रगहि जानत हैं हठि पीछू परे हैं चलैं जित ह्वैं।
करछालत आवत नैन किधौं ये सुधाकर के रथ के मृग द्वै
॥ १५३ ॥

वीरैं (कर्णभूषण ढारें) पहिया हैं जो कानों में चलायमान हैं (डोलती हैं), भौंहें जुआ-रूप हैं। अलक की डोरी से रथ में जोड़े हुए हैं, काम-रथवान ने ज़रा चाबुक भी लगा दिया है। साँवरे रङ्गवाले कृष्ण को अन्धकार समझ कर जहाँ जहाँ वे जाते हैं वहीं चन्द्रमा के जाने की जरूरत समझकर हठपूर्वक उनके पीछे लगे हुए रहते हैं। ये राधिका के नेत्र हैं या चन्द्र-रथ के चौकड़ी मारते हुए दोनों मृग हैं?

नेत्रों की मृग की उपमा सार्थक करनेवाली सर्वोत्तम उक्ति हमें तो यही जँची है।

'दास' जी राधिका के नेत्रों की विशालता कैसी उक्ति से प्रमाणित करते हैं। अधिक और सार अलङ्कारों की कैसी सर्वोत्कृष्ट छटा है।

सवैया।

होत मृगादिक ते बड़े बारन बारन केते पहारन हेरे।
सिंधु में केते पहार-परे धरती मे किते परे सिंधु घनेरे॥

लोकन में धरती कितनी हरि उद्र मे केते हैं लोक वसेरे।
ते हरि 'दास' वसे इनमें सब चाहि वड़े दृग राधिका तेरे
॥ १५४ ॥

मृग की उपमा देना व्यर्थ है, मृग से वडे हाथी होते हैं। हाथी से वडे पहाड होते हैं। कितने ही पहाड समुद्र के पेट में पडे है (अत. समुद्र पहाडों से भी वडा हुआ)। पृथ्वी पर अनेक समुद्र हैं, अत पृथ्वी समुद्रों से भी वडी हुई, और एक एक ब्रह्माड में अनेक पृथ्वी हैं, अत. ब्रह्मांड, पृथ्वी से भी वडे हुए, और हरि (कृष्ण) के उदर में अनेक ब्रह्माड हैं, अत. कृष्ण का उदर ब्रह्माडों से भी वडा हुआ, और उदर तो कृष्ण का एक अङ्ग ही है, कृष्ण की समस्त मूर्त्ति ही तेरे इन नेत्रों में बसती है, अत हे राधिका, तेरे ये नेत्र ही सबसे वडे ठहरते हैं।

उद्र = उदर। चाहि = वढकर (अवधी भाषा)।

'वलभद्र' कवि (केशव के भाई) कहते हैं—

कवित्त।

परम प्रवीन मीनकेतन के मीन कैधौं
सुख के सरोज हैं फुलाये पिय भान के।
सरद के खंजन मिले हैं मुख चंद कौ कि
जोरे हैं कुरंग मृगवाहन समान के॥
वाला तेरे नैन की विसाल साल सौतिन के
'बलभद्र' साने हैं सोहाग रससान के।
[illegible] उपजावत अनेक भाव
मेरे जान येही हैं विधाता पंचबान के॥ १५५॥

ये नेत्र काम की ध्वजा की मछलियाँ हैं या आनन्द के कमल हैं जिन्हें प्रियतम भानु सदैव प्रफुल्लित किये रहता है, या शरद में खञ्जन चन्द्रमा से आ मिले हैं या चन्द्रमा ने दो बराबर डील वाले मृगों को अपने रथ में जोत रखा है। हे बाला, तेरे नेत्रों का सौतों को बडा शाल है (तेरे बडे नेत्रों के कारण सौतों को बडी ईर्षा है), क्योंकि तेरे नेत्र सोहाग-रूपी खरसान के तेज किये हुए बाण हैं (नायक तुझपर ही आसक्त है)। ये नेत्र तो मुनियों के मन में भी अनेक भावनायें उत्पन्न कर देते हैं (मन चचल कर देते हैं), मेरी समझ में तो ये नेत्र ही काम के रचयिता हैं (काम की सृष्टि ये नेत्र ही करते हैं)।

कैसी पाडित्य-पूर्ण और सत्य उक्ति है !

देखिये, 'ऊधवराम' जी नेत्रों को काम-नौका बताते हैं—

कवित्त ।

जोबन प्रवाह तामें पानिप तरंग उठै
भौंह की मरोरन सो भौंर मतवारे हैं।
बालम की मूरति मलाह माँझ बैठि रही
छोटे लाल डोरे तेई गुन रतनारे है॥
पूतरी हलन सोई पतवारी 'ऊधोराम'
लाज बादबान पाल बरुनी सँवारे हैं।
रूप के सरोवर में पैर पैर डोलत हैं
अँखियाँ न होयँ येतो काम के नेयारे हैं॥ १५६॥

यौवन एक नदी है, यौवनच्छटा ही तरगें हैं, भौंहों की कुटिलता ही भौंर है, प्रियतम की मूर्ति ही (जो नेत्रों में सदा

चसती है) मल्लाह है जो बीच नावें में बैठी हुई है, छोटे छोटे लाल डोरे ही गुन (नौका खींचने की रस्सी) हैं, चञ्चल पुतली ही चलती हुई पतवारी है, लाज ही बादवान है, बरुणी पाल है, और रूप के सरोवर में तैरते हुए घूमते हैं। मेरी समझ में तो ये आँखें नहीं हैं, ये काम की नौकायें हैं।

'भिखारीदास' की मुंशीगरी देखिये—

कवित्त।

कुवलय जीतिबे को बीर बरवड राजैं
करन पै जाइबे को जाँचक निहारे हैं।
सितासित अरु नारे पानिप के राखिवे को
तीरथ के पति है अलेख लखि हारे हैं॥
बेधिबे को सर मार डारिवे को महा विष
मीन कहिबे को 'दास' मानस बिहारे हैं॥
देखत के सुवरन हीरा हरिबे को पश्य-
तोहर मनोहर ये लोचन तिहारे हैं॥ १५७॥

शब्दार्थ—कु-वलय = (१) भू-मण्डल, (२) कमल। करन = (१) कान, (२) प्रख्यात दानी राजा कर्ण। तीरथ के पति = तीर्थराज प्रयाग। अलेख = देवता। मानस = (१) तालाब, (२) मन। हीरा = (१) रत्न विशेष, (२) हियरा, हृदय। पश्यतोहर = (१) सोनार, (२) देखते देखते हरण करनेवाला।

तेरे नेत्र कमलों को जीतने में वैसे ही हैं जैसे भू-मण्डल जीतनेवाला बहुत बड़ा बलवान वीर, कानों तक जाने में वैसे ही हैं जैसे राजा कर्ण के याचक (बेखटके निकट-

गामी) सफेद, श्याम और लाल आभा रखने में वैसे ही हैं जैसे प्रयाग (जहाँ गङ्गा, यमुना और सरस्वती हैं), इन्हें देखकर देवता भी हार जाते हैं। विद्ध करने को शर हैं, मारने में विष हैं, हृदय-ताल में विहार करने को मछली हैं, देखने में स्वर्ण (उच्च वर्ण के भले मानस) हैं, पर हृदय-रूपी हीरा हरण करने में ये तेरे लोचन देखते देखते हरण करनेवाले सोनार (पश्यतोहर) हैं।

'गुलाब' कवि का कमाल देखिये। कैसी युक्ति से नेत्रों को बजाज बनाते हैं। आबेरवाँ, चिकन, मखमल, डोरिया, तनजेब, मलमल, गाढा और कमख्वाब कपड़ों के नाम हैं, और श्लेष से दूसरा अर्थ भी देते हैं। उर्दू में इसे जिला और हिन्दी में मुद्रालङ्कार कहते हैं।

सवैया।

आबरवाँ लखि होत'गुलाब' की चीकन मखमल हू सों दराज हैं
डोरियाँ लाल पडी हैं मुलायम जो तनजेब बढ़ावन काज है
मलमल हाथ रहैं लखि लाखन गाढे फँसाव फँसे तजि लाज है
आवत है कमख्वाब बिलोकत नैन नहीं नए नोखे बजाज हैं
॥ १५८ ॥

हे प्यारी, तेरे नेत्र नहीं हैं, वरन अनोखे बजाज हैं। इन्हें देखकर गुलाब की आब (सुन्दरता) रवाँ हो जाती है—भाग जाती है, मखमल से भी अधिक चीकने हैं, लाल डोरियाँ पडी हैं जो अति मुलायम हैं और तनकी जेब बढ़ाती है। लाखों आदमी इन्हें देखकर हाथ मल मलकर रह जाते हैं, और लज्जा छोड़कर कठिन फन्दे में फँस जाते हैं। इन्हें देखकर लोगों को कम ही निद्रा (ख्वाब) आती है।

बसती है) मल्लाह हे जो बीच नाव में बैठी हुई है, छोटे छोटे लाल डोरे ही गुन (नौका खींचने की रस्सी) हैं, चञ्चल पुतली ही चलती हुई पतवारी है, लाज ही बादवान है, बरुणी पाल है, और रूप के सरोवर में तैरते हुए घूमते हैं। मेरी समझ में तो ये आँखें नहीं हैं, ये काम की नौकायें हैं।

'भिखारीदास' की मुशीगरी देखिये—

कवित्त।

कुवलय जीतिबे को वीर बरवंड राजैं
करन पै जाइबे को जाँचक निहारे हैं।
सितासित अरु नारे पानिप के राखिबे को
तीरथ के पति है अलेख लखि हारे हैं॥
बेधिबे को सर मार डारिबे को महा बिप
मीन कहिबे को 'दास' मानस बिहारे हैं॥
देखत के सुवरन हीरा हरिबो को पश्य-
तोहर मनोहर ये लोचन बिहारे हैं॥ १५७॥

शब्दार्थ—कु-वलय = (१) भू-मण्डल, (२) कमल। करन = (१) कान, (२) प्रख्यात दानी राजा कर्ण। तीरथ के पति = तीर्थराज प्रयाग। अलेख = देवता। मानस = (१) तालाब, (२) मन। हीरा = (१) रत्न विशेष, (२) हियरा, हृदय। पश्यतोहर = (१) सोनार, (२) देखते देखते हरण करनेवाला।

तेरे नेत्र कमलों को जीतने में वैसे ही हैं जैसे भू-मडल जीतनेवाला बहुत बड़ा बलवान वीर, कानों तक जाने में वैसे ही हैं जैसे राजा कर्ण के जाचक (वेप्रटके निकट-

गामी) सफेद, श्याम और लाल आभा रखने में वैसे ही हैं जैसे प्रयाग (जहाँ गङ्गा, यमुना और सरस्वती हैं), इन्हें देखकर देवता भी हार जाते हैं। विद्ध करने को शर हैं, मारने में विष है, हृदय-ताल में विहार करने को मछली हैं, देखने में स्वर्ण (उच्च वर्ण के भले मानस) हैं, पर-हृदय-रूपी हीरा हरण करने में ये तेरे लोचन देखते देखते हरण करनेवाले सोनार (पश्यतोहर) हैं।

'गुलाब' कवि का कमाल देखिये। कैसी युक्ति से नेत्रों को बज़ाज बनाते हैं। आवेरवाँ, चिकन, मखमल, डोरिया, तनज़ेब, मलमल, गाढ़ा और कमख्वाब कपड़ों के नाम हैं, और श्लेष से दूसरा अर्थ भी देते हैं। उर्दू में इसे जिला और हिन्दी में मुद्रालङ्कार कहते हैं।

सवैया।

आबरवाँ लखि होत'गुलाब' की चीकन मखमल हू सों दराज हैं
डोरियाँ लाल पड़ी हैं मुलायम जो तनजेब बढ़ावन काज हैं
मलमल हाथ रहैं लखि लाखन गाढे फँसाव फँसैं तजि लाज हैं
आवत है कमख्वाब बिलोकत नैन नहीं नए नोखे बजाज हैं
॥ १५८

हे प्यारी, तेरे नेत्र नहीं हैं, बरन अनोखे बजाज हैं। इन्हें देखकर गुलाब की आब (सुन्दरता) रवाँ हो जाती है—भाग जाती है, मखमल से भी अधिक चीकने हैं, लाल डोरियाँ पड़ी हैं जो अति मुलायम हैं और तनकी ज़ेब बढ़ाती है। लाखों आदमी इन्हें देखकर हाथ मल मलकर जाते हैं, और लज्जा छोड़कर कठिन फन्दे में फँस इन्हें देखकर लोगों को कम ही निद्रा (ख्वाब) आती

'केशव' कवि आँखों ही में नाट्यशाला दिखलाते हैं—

सवैया।

काछे सितासित काछनी 'केशव' पातुर ज्यों पुतरीन विचारो
कोटि कटाच्छ नचैं गति भेद नचावत नायक नेह निहारो॥
बाजत है मृदु हास मृदंग सुदीपति दीपन को उजियारो।
देखत ही हरि देखि तुम्हैं यह होत है आँखिन बीच अखारो
॥ १५९॥

नेत्र की पुतरियाँ ही पातुरी हैं जो सफेद और काले रङ्ग की पोशाक पहने हैं। अनेक कटाक्ष करना ही अनेक प्रकार की गति से नाचना है और प्रेम ही नायक (गुरु) है जो नाचना सिखाता है। मृदु हास ही मृदंग का बजना है, चेहरे की दीप्ति ही दीपक का उजेला है। हे कृष्ण, देखते ही, तुम्हें देखकर उसके नेत्र ऐसी नाट्यशाला रचते हैं।

नोट—जिन महानुभावों को नेत्रों पर और उक्तियाँ देखना हो वे रसनिधि का "रतनहजारा" और बेनी-कृत "नैनामृतप्रवाह" नामक संग्रह देखें।

(२१) पीठ।

'मुहम्मद जैनुद्दीन' का कमाल देखिये और प्रतिभा की सराहना कीजिये—

कवित्त।

अनरस औसर में रूसे नें जो आवै काम
तासों जो दुरावै दीठ ऐसो को कठोर है।
हाथहू धरैंगे अकमाल हू भरैंगे मन
मानैं सो करैंगे या में तुम्हैं का मरोर है॥
'जैनदी मुहम्मद' जू मानि हौं हमारो कहो
राखो वाही ओर सों चलै न कछु जोर है।
पीठ है तिहारी पै हमारी है हमारे जान
काहे ते रिसाने ते हमारी होत ओर है॥ १६०॥

नायिका रूठ गई है। पीठ फेरकर बैठी है। नायक पीठ पर हाथ रखता है तो नायिका रुष्ट होकर फटकार बताती है। इसपर नायक के मुख से कवि कहलाता है—

जो बुरे वक्त में काम आवे भला उससे मैं बेमुरौवती कैसे करूँ। इस पीठ पर मैं हाथ फेरूँगा, अकमाल भरूँगा (छाती से लगाकर भेटूँगा), जो कुछ जी चाहेगा सो करूँगा, इसमें तुम्हारा क्या? -हाँ, मेरा कहना मानकर यदि इसको उस ओर कर लोगी तो मेरा क्या जोर है। पीठ

बेशक तुम्हारी है, पर मान-समय में यह मेरी ओर हो जाती है (मेरा पक्ष लेती है, और पक्षधर का सब कोई आदर करता है)।

भाई वाह! कैसी अच्छी उक्ति-पूर्ण बात है। न जाने नायिका ने इसका क्या जवाब दिया होगा? पर कुछ भी जवाब मिला हो, नायक के तो दोनों हाथ लड्डू ही रहे होंगे।

'आनन्दघन' की उड़ान देखिये। कैसा रस बरसा रहे हैं—

सवैया।

सोभा सुमेरु की संधितटी किधौं मैन मवास गढ़ीस की घाटी।
कै रसराज प्रवाह को मारग बेनी प्रवाह सी यों दृग डाटी॥
काम कला धरि ओप दई किधौं प्रीतम प्यारे पढ़ावन पाटी।
जान की पीठि लखे 'घनआनँद' आनन आन ते होत उचाटी
॥ १६१॥

यह पीठ है या सौंदर्य-सुमेरु के दो शिखरों के बीच का पनारीदार संधिस्थान है, या मदन के बड़े बड़े किलों के बीच की घाटी है, या शृङ्गार-धार के बहने का मार्ग है और पीठ पर पड़ी हुई वेणी उस शृङ्गार-रस की धारा ही है। मेरे नेत्रों को तो ऐसा ही देख पड़ता है। या प्रीतम-प्यारे के पढ़ाने की तख्ती है जिसपर काम ने अपनी कारीगरी से जिला रख दी है (खूब चमकीली कर दी है)। 'घना-नद' जी कहते हैं कि "जान" (प्रियतमा) की पीठ ऐसी सुन्दर है कि उसे देखकर अन्य व्यक्ति का मुख देखने को

जी नहीं चाहता (उसकी पीठ में इतना सौंदर्य है जितना औरों के मुख पर भी नहीं है)।

पीठ के सौंदर्य-प्रकाशन की कैसी अच्छी उक्ति है! रसज्ञ लोग देखें और सराहें।

पुन देखिये, पनारीदार पीठ की प्रशंसा में एक कवि कहता है—

दोहा।

इक तरु द्वै दल होत है यह अचरज की बात।
द्वै तरु कदली जघ में पीठि एक ही पात॥ १६२॥

यह तो मैंने देखा है कि वृक्ष एक हो और उसमें दो दल हों, पर यहाँ तो यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जंघा-रूपी दो कदली तरुओं पर पीठ का एक ही पत्ता है।

(२२) वेसर।

'मुबारक' जी की बात सुनिये—

दोहा।

अलक डोर मुख छवि नदी वेसरि वसी लाय।
दै चारा मुकतानि को मन मरु चली फँसाय॥ १६३॥

उस प्यारी ने तो ग़ज़ब ही कर डाला। देखो न, मुख-छवि की नदी में अलक की डोरी और बेसर की वंशी

बनाकर उसमें मोतियों का चारा लगाकर मेरे मन-मीन को फँसा लेकर चली गई।

हम इस फँसावट के कारण मुबारक को मुबारकबाद देते हैं। ईश्वर करे कि कवियों के मन-मीन इसी तरह फँसा करें जिससे अनोखी उक्तियाँ नो सुनने को मिलें।

(२३) भुज।

'केशवदास' राधिका के भुज की प्रशंसा में अपनी पंडिताई का कमाल दिखलाते हैं—

कवित्त।

'केसोदास' गोरे गोरे गोले कामशूलहर
भामिनी के भुज भले भाय कै उतारे हैं।
सोभा सुख बरसत माखन से परसत
दरसत कंचन से दाड़िन सुधारे हैं॥
वलया वलित देखि देखि रीझे हरि नाह
मानो मन फाँसिवे को पास से विचारे हैं।
मलिन मृणाल सुख पंक में दुराये देखि
देखो जाय छाती माहिं छेद कै कै डारे हैं॥ १६४॥

वे भुज गोरे हैं, गोल हैं, कामशूलहर हैं, मानो ब्रह्मा ने खराद पर चढ़ाकर भाँयकर अभी उतारे हैं। वे शोभा और सुख बरसाते हैं, स्पर्श में मक्खन से कोमल हैं, देखने में

सोने के समान सुवर्ण है, पर सोने में कठिनता होती है (जो इनमें नहीं है)। उन भुजों को चूड़ी, कंकण धरा, पहुँचों सहित देखकर कृष्ण रीझ गये, मानो मन फाँसने के लिये वे बाहु पाश-रूप ही हों। उन भुजाओं को देखकर कमल भी मलिन-मुख होकर कीचड़ में जा छिपा, तिसपर भी बिचारा न बच सका, जाकर देखो उन भुजाओं ने कमल नाल में छेद कर डाले हैं (उन भुजाओं की ईर्षा से ही कमल-नाल में छेद हो गये हैं)।

प्रकृति-निरीक्षण, उक्ति का सौन्दर्य और पडिताई तीनों प्रशसनीय हैं।

'नद' कवि की उक्ति देखिये—

कवित्त।

ललित रसीले अरसीले अंग ठाढ़ी प्रात
देहरी के द्वार कोऊ काम कैसी कामिनी।
कहै कवि 'नद' ऐसे मोहन कुँवर कान्ह
जगि जगि आपुन जगाई सारी जामिनी॥
भौंह मोरि कटि मोरि आँगुरी मरोरि टोरि
चोरि चित्त लेय जो बिलोकै ऐसी भामिनी।
ऐंठि कै उठाई भुजा छूटि परीं दुहूँ ओर
अतरिक्ष मानहु दु टूक भई दामिनी॥ १६५॥

कोई नायिका रात भर जगकर, सवेरे उठ, द्वार पर खड़ी हो अँगड़ाई लेने को अपनी दोनों भुजायें ऊपर को उठाती है। अचानक दोनों भुजायें छूटकर भूमि की ओर वेगपूर्वक गिर जाती हैं। इसपर कवि कहता है कि

मानो बिजली के दो टुकड़े हो गये (भुजाओं का ऐसा रंग है जैसा बिजली का)।

(२४) माँग।

'रसलीन' कवि सिंदूर-भरी माँग का वर्णन करते हैं—

दोहा।

अरुण माँग पटिया नहीं मदन जगत को मार।
असित फरी पै लै धरी रक्त भरी तरवार॥ १६६॥

काली पटियों के ऊपर यह सिंदूर-भरी लाल माँग नहीं है, वरन काम ने सारे संसार को क़त्ल करके ख़ून-भरी तलवार काली ढाल पर रख दी है।

हरदुआगंज-निवासी 'शंकर' कवि फ़र्माते हैं— (यह माँग सिंदूर-रहित है)

कवित्त।

काजर के कूट पर दीपशिखा सोती है कि
श्याम घनमंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥
'शङ्कर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।

काली पाटियों के बीच सोहनी की माँग है कि
　　ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥ १६७॥

कज्जलगिरि पर यह दीपशिखा सो रही है, या श्याम घनमंडल में बिजली है, या रात्रि की गोद में चन्द्रमा की कोर है, या राहु के कबंध पर पुच्छलतारा है, या कसौटी पर सुवर्ण की रेखा है, या प्रकाश ने अंधकार के हृदय में तीर मारा है, या प्यारी की माँग है, या किसी ढाल पर काम का दुधारा खाँडा है।

(२५) सुख।

'हरी' कवि राधिका के मुखका वर्णन यों करते हैं—

कवित्त।

आनँद को कंद वृषभानु जाको मुखचंद
　　लीला ही ते मोहन के मानस को चोर है।
दूजो तैसो रचिबे को चाहत बिरचि नित
　　ससि को बनावै 'हरी' मन को न ओरै है॥
फेरत है सान आसमान पै चढाय फेरि
　　पानिप चढाइबे को बारिधि मे बोरै है।
राधिका के आनन की जोट ना बिलोकि बिधि
　　टूक टूक तोरै पुनि टूक टूक जोरै है॥ १६८॥

वृषभानुजा (राधिका) का आनदकंद मुखचंद खेल ही में (सहज में) कृष्ण के मन को चुरा लेता है।

उसी प्रकार दूसरा मुख बनाने के लिये ब्रह्मा नित्य चंद्रमा की रचना से मुख नहीं मोडता (चंद्रमा को राधिका के मुख के समान बनाना चाहता है)। इस उद्योग में ब्रह्मा नित्य चद्रमा को आसमान की सान पर चढ़ाकर उसे साफ़ करता है फिर आब चढ़ाने के लिये क्षीरसागर में डुबाता है, परंतु राधिका के मुख का जोड़ न देखकर ब्रह्मा उसे पटककर टुकड़े २ करता है, और फिर उनको जोडता है, (न मालूम कितने दिनों से यह काम हो रहा है, पर आज तक राधिका के मुख का जोड तैयार न हो सका)।

वाह ! क्या अनोखी कल्पना है। पढकर दिल दंग हो जाता है।

अब 'मतिराम' जी की अनोखी बात सुनिये—

कवित्त ।

सुन्दर-बदनि राधे सोभा को सदन तेरो
बदन बनायो चारि-बदन बनाय कै।
ताकी रुचि लेबे को उदित भयो रैनि-पति
मूढ़ मति निज कर राख्यो बगराय कै॥
कवि 'मतिराम' ताहि निसिचर चोर जानि
दीनी है सजाय कमलासन रिसाय कै।
रातदिन फेर्यो अमरालय के आसपास
मुख में कलक मिस कारिख लगाय कै॥ १६९॥

हे सुन्दर-मुखी राधिका ! तेरे मुख को ब्रह्मा ने बहुत अच्छी तरह, मन लगाकर, बहुत ही सुन्दर बनाया है। उस मुख की कुछ छवि लेने के लिये मूर्ख चद्रमा ने उदित

होकर अपने कर (किरण, और हाथ) फैलाये तब ब्रह्मा ने उसे चोर समझकर क्रुद्ध होकर यह सजा दी कि मुख में काजल पोतकर सुरलोक के चारों तरफ घूमा करे। वही यह चंद्र-कलंक है।

(मान-समय का मुख)

'कविंद' की कारीगरी देखिये। कोई मान मनाने-वाली सखी कहती है—

कवित्त।

गहरी गुराई सों प्रथम चूरि चामीकर
　　चपक के ऊपर बहुरि पाँव रोप्यो है।
तीसरे असील अरविंद आभा बसि करि,
　　हँसि करि तड़िता को तोयद में तोप्यो है॥
भनत 'कविंद' तेरे मान समय सौतें कहा
　　सुर बनितान को गुमान जात लोप्यो है।
मेरे जान आली आज ऐंड भरयो मुख तेरो
　　भौंहें तानि सौंहें री कलानिधि पै कोप्यो है॥ १९७॥

अपनी गहरी गोराई से तेरे मुख ने पहले तो चाँदी को चूर्ण कर डाला, फिर चंपे को पैर के नीचे कुचल डाला, तीसरे (कुछ लाल होकर) लाल कमल की कान्ति को वश में कर लिया, हँसकर (दाँतों की चमक से) बिजली को बादल में छिपा दिया। अब मान-समय में (अपनी लालिमा से) सुर-नारियों का अभिमान लुप्त किये देता है (सुरनारियों के चेहरे लाल माने जाते हैं)। मेरी समझ में तो हे सखी! यह तेरा मुख गरूर करके आज चंद्रमा पर क्रुद्ध हो रहा है।

'दीन' कवि एक संस्कृत कवि का भाव लेकर कहता है—

नायिका जल में खडी है। उसके मुख का प्रतिबिम्ब जल में पडता है। गले में मुक्ताहार भी है।

शार्दूलविक्रीड़ित।

नाहीं या प्रतिबिंब लो बदन को, छाया नहीं हार की।
तेरे द्वौ कुच को न भास जल में, जानूँ भली भाँति मैं॥
शोभा लो मुख की न पाय शशि है, मुक्ता लरी सो बँधे।
द्वै भारी लटकाय कुंभ गल में, बूडो परो नीर मे॥ १९१॥

हे सखी! यह तेरे मुख का प्रतिबिम्ब नहीं है, और न यह मुक्ता-हार की छाया है, न यह तेरे दोनों कुचों का प्रतिबिम्ब है। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि तेरे मुख की समता न पाकर चन्द्रमा मुक्तालडी से दो भारी घडे बाँधकर और उन्हें अपने गले में लटकाकर पानी में (मारे शर्म के) डूब गया है, वही यह पानी में डूबा पडा है।

'केशव' की पडिताई देखिये—

कवित्त।

गहन मे कीन्ह्यो गेह देवन में देख्यो देह
शिव सो कियो सनेह जाग्यो युग चारयो है।
जलधि मे जप्यो जप तपन मे तप्यो तप
'केशोदास' वपु मास मास प्रति गारयो है॥
उडुगण ईस द्विज ईस ओषधीस भयो
यद्यपि जगत ईस सुधा सो सँवारयो है।

सुनु नँदनंद्प्यारी तेरे मुखचंद सम
चंद पै न भयो कोटि छंद करि हारयो है ॥ १७२ ॥

हे नँदनंद्प्यारी (राधिका), सुन। चंद्रमा ने अनेक उद्योग और छलछन्द किये, अर्थात् ग्रहगण में अपना घर बनाया, अपने को देव-समाज में बैठने-योग्य बनाया, शिव से प्रीति की, चारों युग रातदिन जागरण किया (कभी स्थित होकर सोया नहीं), समुद्र में पैठकर जप किया, सूर्य-ताप से तपा भी, अपने शरीर को प्रति मास गलाया भी, उडगण का राजा बना, द्विज-ईश और ओषधीश भी बना, और यद्यपि ब्रह्मा ने उसे सुधाधर भी बनाया, तो भी वह तेरे मुख की समता न पा सका।

चंद्रमा की कोशिश और केशव की पटिताई दोनों सराहनीय हैं।

'ठाकुर' की ठकुराई देखिये —

कवित्त।

कोमलता कंज ते गुलाब ते सुगंध लैकै
चंद ते प्रकास गहि उदित उजेरो है।
रूप रति आनन सों चातुरी सुजानन सों
नीर लै निवानन सों कौतुक निबेरो है॥
'ठाकुर' कहत या मसालो विधि कारीगर
रचना निहारि को न होत चित चेरो है।
सोने सो सुरंग लै सवाद लै सुधा को बसु-
धा को सुख लूटि कै बनायो मुख तेरो है ॥ १७३ ॥

हे राधिका! तेरा मुख बनाने में ब्रह्मा ने कहाँ से कौनसा मसाला लिया है सो सुन—

कमल से कोमलता, गुलाब से सुगध, चद्रमा से कान्ति, रति-मुख से सौन्दर्य, सुजानों से चतुराई (बात करने की), सब आबदार चीजों से आब, सोने से सुन्दर रग, अमृत से मधुरता और सारी वसुधा का आनन्द एकत्र करके तेरा मुख ब्रह्मा ने स्वय अपने हाथों गढ़ा है, इसीसे सब देखनेवाले तेरे दास हो जाते हैं।

बेशक, इतना मसाला और स्वयं ब्रह्मदेव कारीगर, तो वह वस्तु कैसे न अच्छी होगी, पर साथ ही 'ठाकुर' सा वर्णन करनेवाला भी हो, तभी उस सौन्दर्य का मजा आ सकता है।

(२६) रोमराजी।

सुनिये, एक कवि रोमावली को क्या बतलाता है—

सवैया।

जो रतिनायक कोह भरो हर नैंन हुतासन जोलि बरायो।
सो तुव नाभी सुधासर में निज अग अँगारन आनि बुझायो॥
ता मधि ते मृगलोचनी मेचक धूमसमूह उठो मन भायो।
सोई रुमावली को छल पाय दुऊ कुच कुंभन के बिच आयो
॥ १७४॥

हे मृगलोचनी! मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि जब श्रीकामदेवजी शिव-नेत्र की प्रचंड ज्वाला से जल गये

थे तब अपने अगार-भूत शरीर को तेरे इस अमृत-पूर्ण नाभि-सरोवर में आकर बुझाया था। उस समय जो धुवाँ उठा था वही धुवाँ रोमावली के बहाने तेरे युगल कुचों के मध्य तक फैला हुआ है।

एक दूसरे कवि का अनुमान सुनिये—

सवैया।

जोबन फूल्यो बसंत रसैं तेहि अंग लता लपटी अलिश्रेनी
नाभी बिलौ तजि जाति सुधाको थकी मुख देखि सुनागिनिपैनी
राजत रोमन की तन राजी बहै रस बीजन हीं सुखदेनी
आगे भई प्रतिबिंबित पीछे बिलंबित जो मृगनैनी की बेनी
॥ १७५ ॥

यह रोमराजी है या यौवन वसंत में किसी फूली हुई सुन्दर लता में भ्रमरावली लिपटी हुई है, या नाभी-बिल से निकलकर कोई नागिनी सुधा पीने जाती थी, पर मुख को देखकर चकित हो स्थगित हो रही है, या रस-बीजों की सुखद धारा है, या इस मृगनैनी की लंबी वेणी का (जो पीठ पर पड़ी रहती है) प्रतिबिम्ब है जो स्वच्छ शरीर को पार कर इस ओर पेट पर दिखलाई देता है।

'नृप शंभु' की उक्ति पढ़िये। यह उक्ति प्रतिभा का अरक है। आप फर्माते हैं—

सवैया।

मनोहर अंग की भाठी रची सिसुताई बराई अनंग कलार।
भनै 'नृप शंभु' जो देह की दीपति ज्वाल अँगार से लाल के हार॥

घने सिर बार ज्यों धूम की धार धरयो तरे भाजन नाभी सुढार।
रुमावली कंचन कुंभ उरोजन ते मनो च्वै चली आसव धार
॥ १९६ ॥

रोमावली आसव की धार है। यह आसव टप-काता कौन है ? श्री काम-कलवार जी। सुन्दर शरीर ही भट्टी है, शिशुता ईंधन है जिसे काम्-कलवार ने जला दिया है, देह की दीप्ति ही ज्वाला है, माणिक के हार ही अगार हैं, सिर के बाल ही धुँआ है, नीचे नाभि रूपी आसव-पात्र भी रखा है, और कंचन-कुंभ-रूपी कुचों से यह आसव-धार (रोमावली) नाभि रूपी आसव-पात्र में टपक रही है।

बेशक विलक्षण आसव है, नहीं तो 'नृपशंभु' सरीखे प्रतिभावान सुपंडित कवि इसे देखने मात्र से मस्त होकर अपनी प्रतिभा का अरक कैसे निकालते।

कवि 'रंगपाल' जू की बात सुनिये। इनका रंग ही दूसरा है। कहते हैं—

सवैया।

छीन लई रसराज लता छबि भानुजा-धार हू ते सु-जसी है।
'रंगजूपाल' भनै बलि राधिके रोमवली यह लोनी लसी है॥
रावरे के उर अंतर मोहन मूरति माधुरी बेस बसी है।
बाहर मंजु मनोहरता वही स्यामता ऊपर हू सरसी है
॥ १९७ ॥

यह रोमावली है या श्रीराधिका ने शृंगार-लता छीनकर अपने सीने से चिपका ली है, या यह जमुना की धारा से भी बढ़कर कोई धारा है। हाँ हाँ, मालूम हो गया,

आपके हृदय में कृष्ण की मनोहर मूर्त्ति सदैव बसती है, उसी मूर्त्ति की मनोहर श्यामता ऊपर झलक आई है।

'दीन' कवि कहता है—

दोहा।

रोम रोम राजी करै नेहिन नन अभिराम।
ताही ते कवि 'दीन' भो रोमराजि अस नाम ॥१७८॥

इसका नाम रोमराजी इस कारण पडा है कि यह प्रेमी दर्शक को रोम रोम राजी (आनंदित) कर देती है।

यह विलक्षण उक्ति देखिये, पर बचे रहियेगा—

सोरठा।

अरी पन्नगी पेखि कुच गिरि गह्वर तें कढ़ीं।
रोमवली नहिँ लेखि चढ़न मैर याके तखे ॥ १७९ ॥

हे सखी, इसे तू रोमावली मत समझ। यह तो कुच-गिरि-गह्वर से निकली हुई एक विलक्षण नागिनी है। विलक्षण इस हेतु कि अन्य नागिनियों के काटने से जहर चढ़कर लहर आती है, इसे देखकर ही लहर आती है।

और सुनिये, एक महाशय कहते हैं—

सवैया।

सैसव को तन कोट विजै करि मैन अनीति की रीति पियारी।
चंचलता पग की चख को दई लै चख की थिरता पग धारी॥
पीनता लंक नितम्ब दीन्ही नितम्ब की छीनता लै कटि धारी।
अंतर ते समता को निकारि सु रोमन के मिस कै उर धारी
॥ १८० ॥

काम ने शिशुता का किला जीतकर (युवावस्था लाकर) यह अनीति की रीति चलाई है कि पैरों की चञ्चलता आँखों को दी, आँखों की स्थिरता पैरों में रख दी (नेत्र चञ्चल हुए, गति मन्द हो गई), कमर की पीनता नितंब को दी और नितंब की खीनता कमर को दी (कटि क्षीन हुई, नितंब स्थूल हुए) और हृदय के भीतर की श्यामता को निकाल कर रोमावली के मिस से बाहर उर पर रख दिया है।

'मलिक मुहम्मद जायसी' कहते हैं—

चौपाई।

स्याम भुवंगिनि रोमावली। नाभि ते निकसि कँवल कहँ चली
आय दोउ नारंग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रहि गई
॥ १८१ ॥

यह रोमावली नहीं, एक नागिन है जो नाभि बिल से निकलकर मुख-कमल की ओर जाती थी। चलते चलते जब दो नारंगियों के बीच में (कुच-सन्धि में) पहुँची तो आगे मोर को (मुख पर लटकते हुए बालों को) देखकर भय से वहीं रुक गई है।

'रसराज' कवि की रसीली उक्ति सुनिये—

कवित्त।

मेरु मध्य मदन पलंग को बसन नील
कनक की सिला पै भुजगिनी बिराजी है।
मिटी मुँगयई ताकी मध्यम सी रेख रही
बुझि बिरहागि की धौं नग छबि छाजी है॥

'रसराज' कैधौं बैर पूरब बिचारि चित
काम बधिबे को हर आँग साँग साजी है।
कैधौं कुच बिहग सिकार को तुफग ताने
कैधौं रमनी की रमनीय रोमराजी है॥ १८२॥

यह रमणी की रोमराजी है, या कञ्चन-गिरि के दो शृङ्गों के मध्य काम के पलँगपोश के काले कपड़े का छोर है, या किसी कनक-शिला पर नागिनी पड़ी हुई है, या मिटी हुई अशता की मध्यम (धुँधली) रेखा शेष रह गई है, या बुझी हुई विरहानल का मार्ग है (अग्नि का रास्ता काला होता है, क्योंकि जहाँ से अग्नि देवता चलते हैं वहाँ काले कोयले छोड़ जाते हैं), या पहले का वैर विचारकर काम ने (कुच-रूप) शङ्कर के वधने के हेतु बड़ी तीक्ष्ण साँग बनाई है, या कुच-विहङ्ग (चकवाकों) का शिकार करने के लिये काम ने बन्दूक तानी है।

बेशक अद्भुत उक्ति है।

(२७) सौन्दर्य।

देखिये तो, कैसा विलक्षण सौंदर्य है—

दोहा।

ज्यौं ज्यौं फूँकै नव बधू पगी रसोई लागि।
त्यौं त्यौं धूमै दे अही लगी तमाशे आगि॥ १८३॥

कोई नवल वधूटी रसोई बना रही है। चूल्हे की आग बुझ गई है। वह फूँक मारकर जगाती है, पर अग्नि-देव जगते नहीं। क्यों? इसलिये कि अग्निदेव भी अति निकट से उसका सौंदर्य देखना चाहते हैं, फूँकते समय मुख निकट लावेगी और हम ख़ूब देखेंगे इस विचार से अग्नि-देव जगते नहीं।

'विहारी' की उक्ति सुनिये। बेचारे ससुर को लेने के देने पड गये—

दोहा।

कन दैबो सौंप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप रहँचटे लगि लगो माँगन सब जग आनि॥ १८४॥

किसी के घर छोटी नव वधू आई है। ससुर ने उसके छोटे हाथ विचारकर भीख देने का काम-उसीके सिपुर्द किया है (इस विचार से कि वधू के छोटे छोटे हाथ हैं, कम अन्न खर्च होगा, क्योंकि इसकी अँजुली छोटी होगी), पर उसका सौंदर्य इतना बढा-चढा था कि भिक्षा के मिस दर्शन तो हो जायँगे, इस विचार से सारा ससार उसके दरवाजे भीख माँगने को आने लगा जिससे अन्न का खर्च बहुत अधिक बढ़ गया।

बुड्ढा ससुर पछिताया तो जरूर होगा।

पुनः—

दोहा।

मुख देखन को पुर वधू जुरि आईं नँदनन्द।
सबकी अँखियाँ ह्वै गईं घूँघट खोलत बंद॥ १८५॥

नववधू को देखने के लिये गाँव की स्त्रियाँ एकत्र हुईं। परन्तु वधू का घूँघट खुलते ही (उसके सौंदर्य की कान्ति से) सबकी आँखें बन्द हो गईं, नेत्रों में चकाचौंध आ गई। गजब की कांति रही होगी।

'बिहारी' कहते हैं—

दोहा।

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन ओप उजास॥ १८६॥

जिस घर में वह युवती रहती है उसके इर्द-गिर्द चारों ओर दूर तक के निवासियों पर बड़ी आफत आ पड़ी है। उसके मुख की कान्ति से उस मुहल्ले में सदा पूर्णिमा ही रहती है। तिथि जानने की ज़रूरत हो तो केवल पत्रा ही में मिल सकती है।

कोई सखी कृष्ण से राधिका के रूप का वर्णन करती है—

कवित्त।

बेनी नैन-रोमावली यहै रंग कालिमा है
कहत कलंक कवि जेते भौर वारे हैं।
तरवा अधर नख अरुन बरन येते
साँझ समै लाल रंग देखिये उचारे हैं॥
चाहि कहा रहे हो प्रकास के प्रकास हरि,
चाहो क्यों न जाय जग जाके उजियारे हैं।
राधे को बनाय विधि धोये हाथ ताको रंग
भयो चंद हाथ झारे भये तारे हैं॥ १८७॥

कोई नवल वधूटी रसोई बना रही है। चूल्हे की आग बुझ गई है। वह फूँक मारकर जगाती है, पर अग्नि-देव जगते नहीं। क्यों? इसलिये कि अग्निदेव भी अति निकट से उसका सौंदर्य देखना चाहते हैं, फूँकते समय मुख निकट लावेगी और हम ख़ूब देखेंगे इस विचार से अग्नि-देव जगते नहीं।

'बिहारी' की उक्ति सुनिये। बेचारे ससुर को लेने के देने पड़ गये—

दोहा।

दान देबो सौंप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि।
रूप रहँचटे लगि लगो माँगन सब जग आनि॥ १८४॥

किसी के घर छोटी नव वधू आई है। ससुर ने उसके छोटे हाथ विचारकर भीख देने का काम उसीके सिपुर्द किया है (इस विचार से कि वधू के छोटे छोटे हाथ हैं, कम अन्न खर्च होगा, क्योंकि इसकी अँजुली छोटी होगी), पर उसका सौंदर्य इतना बढ़ा-चढ़ा था कि भिक्षा के मिस दर्शन तो हो जायँगे, इस विचार से सारा ससार उसके दरवाज़े भीख माँगने को आने लगा जिससे अन्न का खर्च बहुत अधिक बढ़ गया।

बुड्ढा ससुर पछिताया तो ज़रूर होगा।

पुन.—

दोहा।

मुख देखन को पुर वधू जुरि आईं नँदनन्द।
खबकी अँखियाँ टूँ गई घूँघट खोलत बंद॥ १८५॥

नववधू को देखने के लिये गाँव की स्त्रियाँ एकत्र हुईं। परन्तु वधू का घूँघट खुलते ही (उसके सौन्दर्य की कान्ति से) सबकी आँखें बन्द हो गईं, नेत्रों में चकाचौंध आ गई। गजब की कांति रही होगी।

'बिहारी' कहते हैं—

दोहा।

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहत आनन ओप उजास॥ १८६॥

जिस घर में वह युवती रहती है उसके इर्द-गिर्द चारों ओर दूर तक के निवासियों पर बड़ी आफत आ पड़ी है। उसके मुख की कान्ति से उस मुहल्ले में सदा पूर्णिमा ही रहती है। तिथि जानने की जरूरत हो तो केवल पत्रा ही में मिल सकती है।

कोई सखी कृष्ण से राधिका के रूप का वर्णन करती है—

कवित्त।

वेनी नैन-रोमावली यहै रंग कालिमा है
कहत कलङ्क कवि जेते भौर वारे हैं।
तरवा अधर नख अरुन वरन येते
साँझ समै लाल रंग देखिये उधारे हैं॥
चाहि कहा रहे हौ अकास के प्रकास हरि,
चाहौ क्यों न जाय जग जाके उजियारे हैं।
राधे को बनाय विधि धोये हाथ ताको रंग
वनि गयो चन्द हाथ झारे भये तारे हैं॥ १८७॥

हे कृष्ण! चन्द्रमा में जो कलङ्क बताया जाता है वह कवियों की गलती है। वह कालिमा तो राधिका की वेणी, नेत्र और रोमावली की है। सध्या समय जो पश्चिम दिशा में लाल रङ्ग देखते हो वह राधिका के अधर, तलवा और नखों से उधार लिया हुआ थोडा सा रङ्ग है। हे कृष्ण! आकाश में प्रकाशित चन्द्र और तारों को क्या देख रहे हो, चलकर उसे क्यों नहीं देखते जिससे ये सब उजले पदार्थ बने हैं। क्या तुम जानते नहीं कि ब्रह्मा ने राधिका का मुख बनाकर जब हाथ धोये थे तो पानी में जो रङ्ग जम गया था वही चन्द्रमा हो गया और हाथ झाड़ने से जो बुन्द छिटके थे उन्हीं से ये तारे बन गये हैं?

बेशक ऐसी ही कान्ति होगी, तभी तो कवि लोग उसके वर्णन में चौंधिया जाते हैं।

पुन: देखिये—

दोहा।

मनिमय भूषन छोरिहू दीप बुझायहु स्वास।
वा नव-धन के बदन सों रहत उजेरो धाम॥ १८८॥

मणिमय भूषण उतार धरने पर और दिया बुझा देने पर भी उस नव वधू के चेहरे से घर भर में उजेला रहता है।

'विहारी' कहते हैं—

दोहा।

लिखन बैठ जाकी सबिहिँ गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥ १८९॥

बडे बडे घमंडी और चतुर चितेरे उसका चित्र खींचना चाहते हैं, पर किसी से नहीं खिंचता और उन्हें बेवकूफ बनना पडता है। क्यों नहीं खिंचता ? कारण यह कि उसके शरीर का सौंदर्य और उसकी कान्ति में प्रतिक्षण समुन्नति होती है; अत क्षणमात्र में वह चित्र पुराना सा जँचता है।

कैसा रूप, कैसा सौंदर्य और कैसी कान्ति होगी, पाठक अनुमान करें।

पुन॰—

दोहा।

सुनि तो दीपति दीप लखि सिर धुनि धुनि जरि जाय ॥
सुदुति निहारे चाँदनी भूमि पछारे खाय ॥ १९० ॥

देख ले, तेरी दीप्ति की बात सुन सुनकर दीपक जल जाता है। तेरी सुन्दर द्युति को देखकर चाँदनी जमीन पर लोटा करती है।

पुन देखिये। कोई सखी कृष्ण से कहती है—

दोहा।

छपे छपाकर चलि चहौ वैसी खानि तियान।
कान्ह कुहू हू मे वहू बारन देय दिया न ॥ १९१ ॥

हे कृष्ण! चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तुम चल कर उसे देखना, वह स्त्रियों के समूह में बैठी हुई है। अपने

तन की द्युति के भरोसे पर वह नव वधू अमावस की रात्रि को भी चिराग नहीं जलाने देती।

'चन्द्रास्त होने पर चलकर देखना' इसका भाव यह कि चाँदनी में तो तुम उसे देख ही न सकोगे। उसकी द्युति और चाँदनी एक सी है, अत वह चाँदनी में मिल जायगी, तुम दोनों का अन्तर जान ही न सकोगे।

कैसा सुन्दर मीलित अलङ्कार है!

मानव-घाट ।

संसार की हर वस्तु में कुछ रंग नया है ।
रखता है वही जिसपै सियापति की मया है ॥

—भगवानदीन ।

(१) आँसू।

ख़ानख़ाना रहीम की दृष्टि देखिये। आप आँसू को भेदिया बताते हैं—

दोहा।

'रहिमन' अँसुवा नैंन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ॥१॥

आँसू आने से हृदय का दुःख प्रगट होता है। इसी बात को 'रहीम' ने यों कहा है कि जिसको घर से निकाल दोगे वह तुम्हारे घर का भेद क्यों न प्रगट कर देगा।

विरहिनियों के आँसू गर्म होते हैं। कितनी गर्मी होती है? इसपर 'भिखारीदास' की उक्ति देखिये। किसी दास द्वारा द्वारकानिवासी कृष्ण प्रति कहलाते हैं—

कवित्त।

प्रात समै 'दास' मेरे पायन परचो है सिंधु-
तट नर रूप ह्वै निपट बेकरार में।
मैं कह्यो तू को है? कह्यो बूझत हौ कृष्ण के तो,
कीजियो सहाय ऐसे संकट अपार में॥
हौं तो बड़वानल बसायो हरि हौ को मेरी
बिनती सुनाओ द्वारका के दरबार में।

व्रज की अहीरिनी के अँसुवा वलित आय
जमुना जरावे मोहिं महानल झार से ॥ २ ॥

मैं समुद्र में स्नान करने गया था। समुद्र-तट पर एक सुन्दर युवक मुझे मिला, पर निहायत बुरी दशा में था। मैंने पूछा कि तू कौन है, तो उत्तर दिया कि जैसे कृपा करके मेरा हाल पूछते हो, वैसे ही मेरा हाल कृष्ण से कहने की भी कृपा करना। मैं बड़वानल हूँ। मैंने कृष्ण के कहने से समुद्र में अपना घर बनाया था, परन्तु व्रज-निवासिनी गोपियों के आँसुओं से युक्त यमुना-जल आकर मुझे महा भयङ्कर ज्वाला से जला रहा है।

पाठक विचारें कि विरह-संताप की कैसी बढ़ीचढ़ी अत्युक्ति है। व्रज में गिरे हुए आँसू यमुना होकर पहले गङ्गा में मिले, गङ्गा ने ले जाकर बङ्गाल की खाड़ी में डाला। समुद्र-तरङ्गों द्वारा जब वह जल मुद्दत में बड़वानल तक पहुँचा तब बड़वानल भी उससे जलने लगा। क्या 'सायंस' वाले बतला सकते हैं कि आँसुओं में के डिगरी की गर्मी थी ?

दोहा।

प्रीतम आवत जानि कै भिस्ती नैन सिताव।
हित मग मे कर देत है अँसुवन को छिरकाव ॥ ३ ॥

प्रेम-पात्र को देखकर आनन्दाश्रु आ जाते हैं। 'रसनिधि' जी इस घटना को इस प्रकार कहते हैं—

प्रीतम को आते हुए देखकर नैन-भिश्ती मार्ग में छिड़काव करते हैं ताकि धूल उड़ने से प्रीतम को तकलीफ न हो। कैसा अनूठा प्रेम है!

दोहा।

अँसुवा होयँ न डीठ डर, ये अखियाँ रिझवार।
पल अँजुरिन निज मीत पै पानी सींचत वार ॥ ४ ॥

'रसनिधि' जी कहते हैं कि प्रेमियों की आँखों में जो आनन्दाश्रु आ जाते हैं वे आँसू नहीं हैं, वरन यह समझो कि रिझवार आँखें (सौंदर्य को पसन्द करनेवाली आँखें) इस डर से कि कहीं मेरे प्रेम-पात्र को किसी की दृष्टि न लग जाये पलक-अञ्जुली से वार वारकर पानी लुढ़काती हैं।

वृद्ध स्त्रियाँ नवागत वधू के आने पर उसपर उतारा करके शर्बत या पानी ढरकाती हैं। लोक में इस रीति को 'धार देना' कहते हैं। इसीका वर्णन 'रसनिधि' ने ऐसे मौके पर किया। कहाँ पर कौन बात किस प्रकार करना चाहिये यह बात कवि ही भली भाँति अनुमान कर सकता है।

'हरिऔध' जी की उक्ति सुनिये—

आँख का आँसू ढली मुँह पर गिरी।
धूल पर आकर वहीं वह खो गई ॥
चाह थी जितनी कलेजे मे भरी।
देखता हूँ आज मिट्टी हो गई ॥ ५ ॥

चित्त में रहनेवाली चाह ही आँसू बनकर निकलती है।

और—

जी बचा लो हो जताते आँख तुम।
आँसुओ! तुमने बहुत हमको ठगा ॥

जो बुझाते हो कहीं की आग तुम।
तो कहीं तुम आग देते हो लगा ॥ ६ ॥

हे आँसुओ! तुम बड़े ठग हो। तुम कहीं की आग बुझाते हो तो कहीं आग लगा भी देते हो।

प्रेमाश्रु की महिमा का 'हरिऔध' जी यों वर्णन करते हैं—

वह कलेजा हो कई टुकड़े अभी।
नाम सुनकर जो पिघल जाता नहीं॥
फूट जाये आँख वह जिसमें कभी।
प्रेम का आँसू उमड़ आता नहीं ॥ ७ ॥

वह कलेजा टुकड़े टुकड़े हो जाय जो प्रेम का नाम सुनकर पिघल नहीं जाता और वह आँख फूट जाय जिसमें प्रेमाश्रु नहीं आते।

'आलम' जी अश्रुधारा को क्या बतलाते हैं, ज़रा ग़ौर से समझिये तो—

कवित्त।

अनँगु दहत ताको अगन सहत दुख
अगनहिं सीरी करो अगनहु आइ कै।
फूल जलु चंदनु समीर हू न सीरी होति
अति ही तपति याकी सकल उपाइ कै॥
कहि कवि 'आलम' न डोलैं औ न बोलै बात
नैन आँसू धार ढरै बैठी मुरझाइ कै।
मानो बिनु नीरेहि अधार थेगि ढीली जाति
फटिकसलाका हूँ दुरारी टेक लाइ कै॥ ८॥

किसी विरहिनी नायिका की दूती नायक प्रति कहती है कि हे नायक, उसको कामदेव जला रहा है, उसके अङ्ग अङ्ग दुःख सह रहे हैं, इसलिये उसके आँगन तक चल कर उस अगना को शीतल कीजिये। वह किसी वस्तु के प्रयोग से शीतल नहीं होती, हम सब उपाय करके हार गई। वह न तो डोलती है, न बोलती है, नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही है और वह मुरझाई हुई बैठी है। यह दृश्य कैसा देख पड़ता है मानो कोई लता बिना निकटस्थ आधार के गिरी जाती थी, अत दो स्फटिक की शलाकाएँ लगाकर उसे टेक दी गई है।

कैसी उत्तम उक्ति है!

(२) कजूस।

एक कवि कजूस की कीर्त्ति इस प्रकार गाता है—

कवित्त।

पौंर के किवार देत घरै सबै गार देत
साधुन को दोष देत प्रीति ना चहत हैं।
मगन को ब्याध देत बात कहे रोय देत
लेत देत भाँजी देत ऐसे निबहत हैं॥
बागेहू के बंद देत बारन की गाँठ देत
धोतिहू की काँछ देत काज ई करत हैं।
एते पै कहत सबै लाला कछू देत नाहीं
लालाजू तो आठो जाम देतई रहत हैं॥ ९॥

गार = गाली। ज्वाव = जवाव। भाँजी = बाधा। बागा = जामा, अँगरखा।

अर्थ और व्यंग सरल है।

और सुनिये, कवि 'घासीराम' जी कहते हैं—

कवित्त।

देवता को सुर औ असुर कहैं दानव को
दाई को सु-धाय दार पैतिये लहत हैं।
दर्पन को आरसी त्यों दाख को मुनक्का कहैं
दास को खवास आनखास विचरत है॥
देवी को भवानी और देहरा को मठ सदा
याही विधि 'घासीराम' रीति आचरत हैं।
दाना को चवेना दीपमाला को चिरागजाल
देवे के डरन कवौ दादा ना कहत हैं॥ १०॥

'दा' धातु का अर्थ है 'देना' और 'द' वर्णमाला का एक अक्षर भी है। कहीं 'द' का उच्चारण मुँह से न निकल जाय, इस कारण कजूसराम 'द' से आरंभ होने वाले शब्दों के बदले उनके पर्यायवाची शब्द बोलते हैं।

दार = दाल। पैतिये = दाल (अवध में दाल को 'पहिती' बोलते हैं)।

अत कजूसराम 'दाल' शब्द के बदले 'पहिती' ही शब्द पाते हैं और वही बोलते हैं।

(३) कचहरी ।

लाला सीतारामजी (अवधवासी) विचार-भवन या कचहरी का वर्णन यों करते हैं—

कवित्त ।

व्याकुल चलत दूत ग्राह औ लहर सम,
चिन्ता में मगन मंत्रि देखो नीर धीर से ।
बकबक करें बक सरिस चतुर लोग,
कायथ निहारे बैठे भुजग ग्रपीर से ॥
एक ओर भेदी खड़े नाक औ मगर सम,
हाथी घोड़े द्वार डोलैं हिंसक अधीर से ।
टेढ़ी मेढ़ी नीति से बिगारैं तट-सब सोहैं
राजा के बिचार-भौन नीरधि गँभीर से ॥ ११ ॥

राजा का विचार-भवन (कचहरी) गभीर समुद्र के समान है, जिसमें दूत (चपरासी, मिर्दहा, हलकारे इत्यादि) ग्राह और लहर के समान (टेढ़ी चाल के) हैं, चिन्ता-मग्न मंत्री-गण स्थिर जल हैं, बकबक करनेवाले चतुर लोग (वकील, मुख्तार और मामलेबाज लोग) बक हैं, कायथ (लेखक, मुहर्रिर, अहलमद लोग) निर्दय भुजंग हैं, भेद करनेवाले लोग (लड़ानेवाले दलाल) मगर और घरियार हैं, हाथी, घोड़े वाहनादि अन्य सामुद्रिक हिंसक जीवजंतु हैं । इस तरह यह कचहरी-सिंधु अपनी टेढ़ी-मेढ़ी चाल से सबशक्ति-रूपी तट

को सदैव बिगाड़ा करता है—इन कचहरियों के द्वारा प्रजा की सब शक्ति नष्ट-भ्रष्ट होती है।

उक्ति उत्तम और विचारणीय है।

(४) कपूत।

'रहीम' की उक्ति देखिये—

दोहा।

ज्यों 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ॥ १२ ॥

पुत्र एक बहुत ही उत्तम पदार्थ है। पर कपूत (कुपुत्र) वैसा ही है जैसे दीपक, अर्थात् जैसे दीपक बारे से (जलाने से) घर में उजियाला होता है, इसी प्रकार बारे से (पुत्र के बचपन में) तो यह जान पड़ता है कि अब वंश प्रकाशित होगा, पर जैसे दीपक के बढ़ जाने से (बुझ जाने से) अँधेरा हो जाता है, वैसे ही कुपुत्र के बढ़ने से (सयाने होने पर) कुल का यश मंद पड़ जाता है— वह अपनी कुचाल से कुल को कलंकित करता है।

खूबी इसको इस बात में है कि हिन्दी-कवि प्रायः श्लेष का निर्वाह संस्कृत-शब्दों द्वारा किया करते

है। पर रहीमजी ने 'धारे' और 'चढ़े' दो ठेठ-हिन्दी के शब्दों द्वारा श्लेषालंकार का निर्वाह बहुत ही उत्तम रीति से किया है। उक्ति भी परम रमणीक और शिक्षाप्रद है। हिन्दी शब्दों द्वारा श्लेष के निर्वाह के उदाहरण हिन्दी-साहित्य में बहुत ही कम देखे जाते हैं।

---

(५) कवि और कविता।

इस दोहे में श्लेष का मजा मुलाहजा कीजिये—

दोहा।

चरण धरत चिंता करत नींद न भावत शोर।
सुवरण को सोधत फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर॥ १३॥

चरण = (१) पैर, (२) छन्द का चतुर्थांश। सुवरण = (१) सुन्दर मधुर अक्षर, (२) सुन्दर रंगवाली स्त्री, (३) सोना।

कवि, व्यभिचारी और चोर सोच सोचकर चरण धरते हैं, उन्हें नींद और शोर अच्छे नहीं लगते, और तीनों सुवर्ण की खोज में रहते हैं।

'केशव' का कथन है—

दोहा।

राजत रंच न दोषयुत कविता, वनिता, मित्र।
बुंदक हाला परत ज्यौं गंगा-घट अपवित्र॥ १४॥

कविता, स्त्री और मित्र में यदि जरा सा भी दोष हो तो वे शोभा नहीं पाते, जैसे घडे भर गंगाजल में एक बूँद भी मदिरा पड जाने से सब जल अपवित्र ही समझा जाता है।

कहाँ तो आचार्य का यह कथन और कहाँ आजकल के अंधाधुंधी कवि! महदन्तर!!

कविता और स्त्री कैसी होनी चाहिये, यह बात गोविन्द गिल्ला भाई के मुख से सुन लीजिये। गुजराती होकर ये हिन्दी में कविता करते हैं और अच्छी करते हैं। इनके शब्दों की तोड़-मरोड़ रम्य है—

कवित्त।

निखिल निकाई भरी सुन्दर सुवर्णवारी
राजत रसाल महा विबुध बिराजिनी।
सरल सुखद सदा दूषणरहित पुनि
भूषणसहित लसै दिन और जामिनी॥
बिमल बिसाल हाव भाव ते भरित पुनि
श्लेष ते सदा ही लगैं चित्त से सुहासिनी।
'गोविंद' कहत ऐसी पाइये सु-पुन्यन ते
सुकवि की काव्य और कुलवती कामिनी॥ १५॥

सुहासिनी = सुहावनी। अर्थ सरल है। श्लेष की छटा देखने योग्य है।

एक दोहे में इसी के सदोष का मजा चखिये—

दोहा।

अगुण सभूषण सुभ सरस सुबरन सुपद सराग।
इमि कविता अरु कामिनी लहै जु सो बड़ भाग॥ १६॥

भावार्थ वही है जो ऊपरवाले कवित्त का है, पर इसमें अनुप्रास और श्लेष की छटा विशेष है।

कविता और स्त्री के दूषण भी 'गोबिन्द' ही के मुख से सुनिये—

कवित्त।

व्रतभंगधारी भरी अगन की सारी अरु
भूषन रहित लसैं दूषन की दामिनी।
सुनत सबद जाके लागत कठोर अरु
चित्त समुझाय ना बिचारे दिन जामिनी॥
कलित कुवर्ण अरु बिषम चरनधारी
रस तें रहित लसैं कुरीति की गामिनी।
'गोबिन्द' कहत ऐसी मिले पूरे पापन तें
कुकवि को काव्य और कुलहीन कामिनी। १७॥

(कविता-पक्ष में)	(स्त्री-पक्ष में)
वृत्तभङ्गधारी = छंदोभङ्गवाली	व्रतभङ्गधारी = पतिव्रत भङ्ग वाली, पुश्चली।
अगन की = गणागण विहीन	अगन की = गुण-रहित।
भूषण = अलङ्कार	भूषण = जेवर।
दूषण = काव्य-दोष	दूषण = चरित्र-दोष।
कुवर्ण = मधुर-वर्ण-रहित	कुवर्ण = काली-कलूटी।

विपम चरणवारी = जिसके चरण छोटे वडे हों	विपम चरणवारी = कुवडी, लँगडी।
रस = काव्य-रस	रस = प्रेम-रस।
कुरीति की गामिनी = नियम विरुद्ध	कुरीति की गामिनी = कुमार्ग गामिनी।

शब्दार्थ समझकर अर्थ लगाइये और विचार कीजिये। अनोखा मजा पाइयेगा।

कविता समझने के लिये मनुष्य में कौन कौन में गुण होने चाहिये यह वात 'आनन्दघन' जी के मुख से सुनिये—

सवैया।

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुदरतानि के भेद को जानै
जोग वियोग की रीत मे कोविद भावना भेद स्वरूप को ठानै
चाह के रग मे भीजो हियो बिछुरे मिले पीतम सॉति न मानै
भाषा प्रवीन सुछद सदा रहै सो 'घनजी' के कवित्त बखानै
॥ १८ ॥

प्रेमी हो, ब्रजभाषा में प्रवीण हो, सौंदर्य के भेदों को जानता हो (विचार-सौंदर्य और रूप सौंदर्य के भेदों का जानकार हो), सयोग-रस और वियोग-रस का पण्डित हो, भावना-भेद के अनुसार अपना स्वरूप बना सकता हो, प्रेम के रङ्ग से हृदय तर बतर हो, प्रिय के सयोग से अथवा वियोग से (प्रत्येक दशा में) सतुष्ट होकर बैठ न रहे, अनेक भाषाओं में प्रवीण हो, और स्वच्छन्द प्रकृति का हो, वह मनुष्य घनानन्द के कवित्तों का रसास्वादन कर सकता है।

ओर भी सुनिये। 'घनानन्द' जी अपनी कविता के गुण स्वय कहते है। इसे गर्व नहीं, वरन् कविता के सच्चे लक्षण समझना चाहिये—

सवैया।

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै यहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौर पै बौरै लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहो ह्याँ
प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कबिता 'घन आनद' की हिय
आँखिन नेह की पीर तकी॥ १८॥

कविता में प्रेम से परिपूर्ण ऐसी बात कहना चाहिये जिसमें सुननेवाला अत्यन्त ऊँचे दर्जे का प्रेम पा सके, जिसके सुनने को सब लोग ललचे, सबकी बुद्धि चकित हो जाय और सब सुननेवाले पागल से हो जायें। कविता सासारिक पदार्थों या घटनाओं पर ही हो, वह ऐसी हो कि प्रवीण लोगों की बुद्धि उससे डर जाय (प्रभावित हो)। घने आनन्द की कविता (घनानन्द-कृत कविता) वही समझ सकता है जिसने हृदय की आँखों से प्रेम की पीडा देखी हो (प्रेम-पीडा का अनुभव किया हो)।

नेह = (१) प्रेम, (२) तैल। 'घनआनन्द' और 'नेह' शब्द श्लिष्ट है। खूबी यह है कि नेत्रों में तेल लग जाने से पीडा होती है और आँसू बहने लगते है। कवि का भाव यह है कि जिसके हृदय में प्रेम की पीडा हो और जो हृदय प्रेम के लिये अश्रुपात करता हो वही हृदय कविता का मर्म समझ सकता है, शुष्क-हृदय काव्य का रसास्वादन नहीं कर सकता।

कविता करने के सम्बंध में 'दास' जी की राय सुन लीजिये—

सवैया।

शक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्मनछत्र में दीन्ही बिधातैं
काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी सुनी बहुलोककीबातैं
'दास' जू जापै एकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातैं
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं
॥ २० ॥

'दास' जी कवि के लिये तीन गुण अत्यावश्यक समझते हैं—(१) ईश्वर प्रदत्त शक्ति, (२) गुरु से काव्य-रीति सीखना और (३) संसार का अनुभव। इन तीनों में से किसी एक की भी कमी से काम नहीं चल सकता, जैसे रथ तीन चीजों में से एक के भी गिर जाने से ठीक नहीं चल सकता। रथ को चलाने के लिये जैसे बैल (धुरन्धर), रथवान (सूत) और पहिये (चक्र) की जरूरत है, वैसे ही कवि के लिये उपर्युक्त तीन वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता है।

कविता सीखनेवाला व्यक्ति गुरु से क्या क्या सीखे यह भी 'दास' जी से सुन लीजिये—

सवैया।

जानै पदारथ भूषन मूल रसांग परांगन में मति छाकी
त्यों धुनि अर्थ सुवाक्यन लै गुन शब्द अलंकृत सो रति पाकी
चित्र कवित्त करै तुक जानै न दोषन पंथ कहूँ गति जाकी
उत्तम ताको कवित्त बनै करै कीरति भारतीयो अति ताकी
॥ २१ ॥

पदों का अर्थ करना, अर्थालङ्कार, रस और रस के ऊपरी अङ्ग (विभाव, अनुभाव, सचारी भाव इत्यादि), ध्वन्यर्थ, सुन्दर वाक्यों का गुण, शब्दालङ्कार, चित्र-काव्य के नियम, कविता और अलङ्कारों के दोष इन सब बातों को गुरु से पढ़े, तो उसकी कविता अच्छी बनैगी और सरस्वती जी उसकी कीर्त्ति बढ़ावेगी।

आजकल के कवि-मन्यों को इन आचार्यों की शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिये।

(६) कलियुगी अमीर।

जरा यह ठाट भी देखिये—

सवैया।

द्वार पै दीरघ दाँत निपोरे बिराजत हैं बनि भैरो के वाहन।
भीतर जाय सभा में लखे तो सरासर सोहत शंभु के वाहन॥
पास सलाह करया लगे रहै कान हमेस गनेस के वाहन।
देवी के वाहन जानि कै आये पै
गादी पै देख्यो तो सीतला-वाहन॥ २२॥

भैरव के वाहन = कुत्ते। शंभु के वाहन = बैल। गणेश के वाहन = चूहे (अकारण ही राय को कुतरनेवाले)। देवी के वाहन = सिंह (जैसे फलानेसिंह, ढिमाकेसिंह इत्यादि)। सीतला-वाहन = गधा।

पहले तो दरवाजे ही पर दर्बान लोग कुत्ते की तरह भूँक दौड़ते हैं। किसी प्रकार सभा में पहुँचे तो सभासद निरे बैल (बेसमझ), सलाहकार लोग चूहे के समान बिना जाने ही राय काट देनेवाले मिलते हैं। गुणीजन तो निरे समझदार आते हैं, पर वहीं पर गधे समान (निरे भद्दू) अमीर मिलते हैं जो रीझना जानते ही नहीं।

(७) काशी-वास।

'कुलपति' मिश्रजी काशी-वास का फल व्याजस्तुति अलङ्कार के बल पर यों कहते हैं—

कवित्त।

जेहि ठाँ बसे ते परिणाम होत शूली, दृग
समता मिटाय के विषम नैन कीजिये।
सरल सुभाय तिनको न रहै लेस होत
और ही सो भेस उर तमोगुण दीजिये॥
तन सों विभूति लगै भाल ज्वाल जगमगै
कंठ कालकूट व्याल माल कैसे जीजिये।
तू तो कहै काशीवास काशीवास करि नित
काशीवास करे ऐसो सुखसाज लीजिये॥ २३॥

हे मन! तू तो काशीवास के हेतु लालायित हो रहा है, पर काशी-वास में मुझे बड़े बड़े कष्ट दिखाई पड़ते

है। जहाँ रहने से अन्त में शूली होती है (शूली = महादेव), समदृष्टि खोकर विषम दृष्टि वाला होना पड़ता है (त्रिलोचन = महादेव), स्वभाव की सरलता नहीं रहती, स्वभाव ही और हो जाता है, हृदय में तमोगुण भर जाता है (ये गुण भी शिव में होते हैं), शरीर पर राख लगती है (शरीर विभूति या वैभव-युक्त होता है), भाल पर ज्वाला जगती है, कण्ठ में जहर होता है—ऐसी ज्वाला से कैसे बचूँगा ? वहाँ रहने से क्या लाभ ?

(८) खीरा ।

रहीम जी कटुवादियों की सजा तजवीज करते हैं—

दोहा ।

खीरा को मुँह काटिके, मलियत लोन लगाय ।
'रहिमन' करुये मुखन की, चहिये यही सजाय ॥ २४ ॥

खीरा के मुख पर कुछ कटुता रहती है, इसी कारण लोग पहले उसका मुख काटकर और नमक मलकर कटुता निकालते हैं, तब खाते हैं। 'रहीम' कहते हैं कि कटु-मुख व्यक्तियों के लिये यही सजा उचित है।

कविता इसे कहते हैं। एक अत्यन्त साधारण वस्तु के आधार से अपने प्रकृति निरीक्षण द्वारा कैसी उत्तम शिक्षा निकाली गई है। हजारों लाखों नहीं, करोड़ों मनुष्यों

ने यह बात देखी होगी, स्वयं की होगी, पर उससे कुछ शिक्षा लेने की बात सूझी 'रहीम' जी को। इसीको अनोखी सूझ, कविता, सहृदयता और प्रतिभा कहते हैं।

(९) घटोक्ति।

बकसी हंसराजजी की प्रतिभा देखिये—

जब मैं मूल हतो माटी को तब मैं सही कुदारी।
गार मचाय मोर तन गारयो कुम्हरा लातन मारी॥
फेर मसोस मीड़ कै मेरो लैं कर पिंड बनायो।
हाथन मारि सुधार सीख दै चकहा धारि भँवायो॥
फाँसी डारि उतारि चाक ते फेरि धरनि पर धारो।
सूरज तपन बैठि तपु कीन्हो यह तनु तपि तपि गारो॥
उपल काठ के बीच बैठि पुनि कष्ट सहो बहुतेरो।
फिरि तपि तपि दिनकर तेजन सो ठीक भयो तनु मेरो॥
जब दृढता आई तन मेरे तब मैं भयो वियोगी।
अपनो तन रँगि रँगि गेरू सो भयो दिगम्बर योगी॥
अनल सहित फिरि तप्यो अवाँ में सिद्ध भयो तब योहीं।
अदेप दाम लैं दै दै ठोकर कुम्हरा बेचो मोहीं॥
जब तप कर परिपक्व भयो मैं तब इनके ढिग आयो।
जो इच्छा है मेरे मन मे सो अजहूँ नहिं पायो॥
जो जल भरि धरिहै सिर ऊपर अपने करन उठाई।
तो कछु अरस परस छतियन सों भागन ही ह्वै जाई॥

यह आशा धरि अपने जिय में तप करि गाढ़ो गाता।
मेरे मन के सबै मनोरथ पूरन करै विधाता॥
जो मैं इतनो तप करि आयो तेहि सो हृदय न खोलै।
सो यह ग्यालिनि सुनिये लालन तुम सो कैसे बोलै॥२५॥

कोई नगोढ़ा ग्वालिन बगल में घड़ा दबाये पानी लाने के लिये यमुना-तट को जा रही है। मार्ग में कृष्णजी मिलते हैं और उससे कुछ छेड़छाड़ करते हैं, पर वह ग्वालिन कृष्ण से बात तक नहीं करती। तब कृष्ण कहते हैं कि हमसे तो अधिक भाग्यवान यह मिट्टी का घड़ा ही है। हमसे तो यह बोलती भी नहीं और इस घड़े को इसका अङ्ग-स्पर्श तक प्राप्त है। अच्छा होता यदि हम भी मिट्टी का घड़ा ही होते।

इसपर घड़ा अपनी हकीकत कहता है। अर्थ सरल ही है। पाठक पढ़ें और स्वयं मजा लें। यह उक्ति प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। भाषा कैसी सरल, मधुर और चिकनी है। आजकल के ऊबड़-खाबड़ भाषा लिखने वाले इससे शिक्षा लें।

नोट—ऐसी ही अनेक अनूठी उक्तियाँ पढ़ना हो तो इकसी हंसराज-कृत 'स्नेहसागर' ग्रंथ पढ़िये। यह ग्रंथ काशी के 'साहित्य-भूषण-कार्यालय' से मिल सकता है।

(१०) घड़ी ।

काशी निवासी पं० अम्बिकादत्त व्यास जी की घडी वाली उक्ति देखिये—

घटी सुवृत्ता सुगतिर्द्वादशाङ्कसमन्विता ।
उन्निद्रा सतत भाति वैष्णवीव विलक्षणा ॥ २६ ॥

और काशी-प्रवासी 'दीन' कवि कृत उसीका हिन्दी-अनुवाद भी मुलाहिजा कीजिये—

घडी सुवृत्ता सुगति युत द्वादश अंक समेत ।
सजग सदा भगतिन सरिस रटै नाम हरि हेत ॥ २७ ॥

यह घडी गोल है, सुन्दर चाल वाली है, बारह चिन्हों से युक्त है, सदा जगा करती है, अत विलक्षण भगतिन के समान जान पडती है ।

विष्णु भक्ता स्त्रियाँ भी सुवृत्ता (सलमसाहत से अपनी जीविका प्राप्त करनेवाली), सुगति (उत्तम चाल वाली, शुभाचरण वाली और मोक्ष-मार्ग की पथिका), बारह तिलक-चिन्हों से युक्त, सदा निरालस्य रहनेवाली और सप्रेम हरि नाम रटनेवाली हुआ करती हैं ।

(११) चतुर नर ।

'कुलपति मिश्र' जी का उपदेश सुनिये और समझने की कोशिश कीजिये। आप कहते हैं—

दोहा ।

तिय वश होहिँ न चतुर नर ते दुर्लभ तिहुँ लोक।
फूलत कामिनि पग परस आनँद मगन अशोक ॥ २८ ॥

ऐसे चतुर नर तीनों लोक में दुर्लभ हैं जो स्त्री के वश में नहीं होते। मनुष्य की तो बात क्या, जड़ अशोक वृक्ष तक को देखा है कि स्त्री के चरण-स्पर्श से आनन्द में मग्न होकर प्रफुल्लित होता है।

बेशक, स्त्री ही संसार में महामाया है, कौन ऐसा है जो इसके प्रेम पाश में न बँधा हो।

नोट—प्रवाद है कि स्त्रियों के नूपुर-युक्त चरणों के प्रहार से 'अशोक' वृक्ष में फूल लगते हैं, जैसा कि कहा है—'पादाहत प्रमदया विकसत्यशोकः।' 'कुमारसम्भव' आदि काव्यों में भी इसका उल्लेख है।

(१२) चरखा।

आजकल चरखे की महिमा गाई जाती है। कवि 'दीन' की उक्ति सुनिये—

कवित्त।

कैधौ मैनचेस्टर को मानि बलि दैत्यराज,
वामन स्वरूप अवतार प्रभु धारो है।
कैधौं लंक शहर विचारि लंकाशायर को,
वायुपुत्र छोटो रूप काठ को सँवारो है॥
छायो देखि हिन्द पै विदेशी वस्त्र तम तोम,
कैधौ भानु अल्प रूप आपनो निकारो है।
'दीन' कवि कैधौ या असहयोग विष्णुजू को,
चक्र चारुगामी कैधौं चरखा हमारो है॥२९॥

मैनचेस्टर नगर को (इँगलैंड का एक नगर जहाँ से विलायती कपडा आता है) बलि दैत्य मानकर या तो हमारे प्रभु (विष्णु भगवान्) ने चरखा-रूप से वामनावतार धारण किया है, या लंकाशायर को (इँगलैंड का वह प्रांत जहाँ से विलायती कपडे आते हैं) लंका विचारकर हनूमान-जी काठ का छोटा रूप धारण करके चरखा बने हे, या विदेशी वस्त्रों से भारत में घना अंधकार छाया हुआ देखकर सूर्य ने ही छोटा सा चरखे का रूप धारण किया है, या यह असहयोग-रूप विष्णु भगवान् का सुदर्शन चक्र है जो हमारी रक्षा करेगा।

दूसरी उक्ति सुनिये—

कवित्त।

विप्र के समान देखो माल उर धारे रहै,
मन्द मन्द सुनो वेद मत्र उचारो है।
कैधौं सरमा को बाप कूकुरी अनेक जावे,
भारत स्वतंत्रता के भलो रखवारो है॥
कैधौं सूतपिता है अनेक सूत पैदा करै,
रागयुक्त। पढत पुराण पुन्यवारो है।
भारत-प्रतिष्ठा-द्रौपदी को पटदानी किधौं,
द्वारकानिवासी किधौं चरखा हमारो है॥३०॥

यह चरखा अवश्य वामन है, क्योंकि यह छोटा है और विप्रवत् हृदय पर माल धारण किये है और मदध्वनि से वेदमत्र भी उच्चारण करता है, या यह सरमा (इन्द्र की कुतिया) का बाप है, क्योंकि यह अनेक कुकुडी पैदा करता है, और भारत की स्वतन्त्रता का रक्षक है (कुत्ते भी रक्षक होते है), या यह सूत-पिता है जो अनेक सूत पैदा करता है और राग से पुराण पढता है, या भारत की प्रतिष्ठा-रूपी द्रोपदी की लज्जा का रक्षक द्वारकावासी कृष्ण है, या हमारा चरखा है।

इसमें माल, कुकुरी और सूत शब्दों की खूबियाँ पर ध्यान देने से इस उक्ति का मजा चौगुना हो जाता है।

कोई स्त्री कृष्ण को देखकर उनके गुण स्मरण करती हुई चरखा कात रही थी। किसी ने पूछा कि कृष्ण को देखा है क्या? उत्तर मिलता है—

कवित्त।

सुन्दर सगुन बाल माल उर धारे लसो,
मंद मंद मधुर सुराग हू उचारो है।
प्यारो युवतीन को दुलारो बूढ़ी नारिन को,
हाथ छुए नृत्य करै नैनन निहारो है॥
दीनन को मीत है, दुशासन की भीति हू ते,
भारत-प्रतिष्ठा-द्रौपदी को रखवारो है।
काहे सखी नंद को दुलारो लखि पायो कहूँ,
नाहीं बीर! देखो यही चरखा हमारो है॥३१॥

सुन्दर हैं, गुणी बालक है, माला पहने हैं, मंद मंद मधुर राग भी गाता है, युवतियों का प्यारा और बूढ़ियों का दुलारा है, हाथ से छूते ही मग्न हो नाचने लगता है—मैंने निज नेत्रों उसमें ये गुण देखे हैं। दीन धनहीनों का मित्र है, दुःशासन के डर से भारत की प्रतिष्ठा-रूपी द्रौपदी का रक्षक है (बुरी हुकूमत से भारत की प्रतिष्ठा को बचानेवाला है)। यह वार्ता सुनकर किसी ने पूछा कि कहीं कृष्ण को देखा है क्या (जो उनके गुणों पर मुग्ध होकर अकेली बैठी ऐसा प्रलाप कर रही है)। तब वह चतुराई से उत्तर देती है कि नहीं जी, यह देख लो, मेरे चरखे में भी तो यही गुण हैं।

छेकानुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है। सगुन, माल और दुशासन शब्द भी गजब ढा रहे हैं। पाठक विचारें और मजा लें।

इस समय के देश-नेताओं के नामों को श्लिष्ट करके दूसरा अर्थ लेते हुए पुनः 'दीन' की वैसी ही उक्ति सुनिये—

कवित्त।

जाके हीरा मोती लाल होत हैं निछावर री,
नूनरी सुगधी जू को आँखिन को तारो है।
दास चित रंजन को मानो निधि-अंजन है,
चौधरानी जू को राम भजन सो प्यारो है॥
हिन्दू को है ताज शान शौकत मुहम्मदी की,
मोहन मदन पाल बाल को दुलारो है।
सुन्दर सुगुनवारो सत्यपाल दीन हितू,
नंद को दुलारो नहीं चरखा हमारो है॥३२॥

जिसके सिर पर मोती और लाल निछावर होते हैं सुगंधी नाम्नी गुर्जरी को बहुत प्यारा है, निज दासों को खुश करने के लिये मानो निध्यन्जन है, चौधरानी (यशोदा या कोई वृद्धा) जू को रामभजन के समान प्यारा है, हिन्दुओं की प्रतिष्ठा ही है, मुसलमानों के लिये भी शान शौकत की वस्तु है, मदन को भी मोहित करता है, रक्षक बालकों का भी (साथियों को भी) दुलारा है, सुन्दर है, गुणी है, सत्यपालक है, दीनों का हितुआ है। (इतने में किसी ने पूछा कि) क्या तुम नंद-पुत्र का गुण बखानते हो, (तब 'दीन' कवि कहता है) नहीं साहब! मैं तो चरखे की बात कह रहा हूँ। (मोतीलाल, गुजरात-निवासी गांधी, चित्तरंजनदास, चौधरानी सरलादेवी, रामभजदत्त चौधरी, शौकत-अली, मुहम्मद अली, मदनमोहन, पालबाबू, बाल गंगाधर तिलक इत्यादि देश नेताओं के नाम इसमें आ गये हैं)।

पुन उल्लेख अलंकार में 'दीन' की उक्ति सुनिये—

कवित्त ।

भारत की जानकी स्वतंत्रता समुद्र पार,
ताहि खोजि लावन को अजनी दुलारो है।
लज्जा द्रौपदी है आज हाथ मे दुशासन के,
तासु हेत द्वारकानिवासी नदवारो है॥
देश को सुमान-गज ग्रस्यो है विदेश ग्राह,
तासु गर्ब गजन को चक्र अनियारो है।
'दीन कवि' विमुख न होहु मन लाय सेवो,
सब गुनवारो प्यारो चरखा हमारो है॥२३॥

यह चरखा भारत-स्वतत्रता-रूपी जानकी को समुद्र पार से खोज लाने के लिये हनूमान है, लज्जा-द्रौपदी को दुःशासन (बुरी हुकूमत) से बचाने के लिये कृष्ण है, भारत के मान-रूपी गज को विदेश-रूपी ग्राह ने ग्रस लिया है उसे बचाने को चोखा विष्णु-चक्र है, अत 'दीन' कवि उपदेश देता है कि इससे विमुख मत हो, मन लगाकर इसका सेवन करो, यह हमारा चरखा सर्व-गुण-सम्पन्न है।

(१३) जरावस्था।

'केशव' की अनोखी उक्ति सुनिये। बुढ़ापे ने सिर के केश तथा समस्त शरीर के रोएँ सफेद कर डाले हैं। इसपर आप कहते हैं—

सवैया।

विलोकि सिरोरुह सेत समेत तनोरुह 'केसव' यौ गुन गायो।
उठे किधौ आयकी औधिके अकुर सूल कि सु ख समूल नसायो॥

लिख्यो किधौं रुपे के पानी पराजय रूप को भूप कुरूप लिखायो।
जरा सरपजर जीव जरयो कि जरा जरकबर सो पहिरायो ॥ ३४ ॥

सिर के केश तथा समस्त शरीर के रोएँ सफेद देखकर 'केशव' अनुमान करते हैं कि ये सफेद रोएँ हैं या मृत्यु के अकुर हैं, या ऐसे शूल हैं जिन्हों ने सुख को समूल नष्ट कर दिया है, या कुरूपता ने रूप भूप द्वारा चाँदी की स्याही से पूर्ण पराजय-पत्र लिखा लिया है, या जरावस्था ने जीव को शर-पजर में डाल रक्खा है, या जरा ने इस शरीर को जरी का दुशाला (जर-कबर) ओढ़ा दिया है।

'केशव' की दूसरी उक्ति सुनिये और केशव की रसिकता का अदाजा कीजिये—

दोहा।

केसव केसन अस करी जस बैरिहु न करायँ।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाँय ॥३५॥

इन सफेद केशों ने मेरे साथ ऐसी बुराई की जैसी वैरी भी न करेगा। इन सफेद केशों के कारण चन्द्रमुखी मृगलोचनी युवतियाँ मुझे 'बाबा बाबा' कहकर चली जाती हैं (मेरे पास जरा भी नहीं ठहरतीं कि मैं उनके चन्द्रमुख का मजा लूटता)।

वाह पडितजी वाह ! बूढ़े मुहँ मुहाँसे !

(१४) तलवार।

'दास' जी कहते हैं—

कवित्त।

कढ़िकै निसंक पैठि जाति झुण्ड झुण्डन में
लोगन को देखि 'दास' आनन मगति है।
दौरि दौरि जाहि ताहि लाल करि डारति है
अंग लगि कंठ लगिबे को उमगति है॥
चमक झमकवारी ठमक जमकवारी
दमक तमकवारी जाहिर जगत है।
राम असि रावरे की रन में नरन में
निलज्ज वनिता सी होरी खेलन लगति है॥ ३६॥

म्यान रूपी मकान से निकलकर मर्दों के झुंडों में पैठ जाती है, लोगों को देखकर उनके मुखों से प्रेम करती है। दौड़ दौड़कर जिसको पाती है उसको लाल कर देती है, मजाक करने के हेतु सबके गले से लगने के लिये उत्साह दिखाती है, चमक, झमक, ठमक, जमक, दमक और तमक (स्त्रियों के सब ही गुण) उसमें है। हे रामजी, आपकी तलवार ऐसी है कि रण-समय में निकलकर किसी निर्लज्ज स्त्री की तरह मर्दों के साथ होली सी खेलने लगती है।

पुन 'दास' जी कहते हैं—

कवित्त।

राम असि तेरी अस वैरिन को कीन्हो हाल
जाते दोउ काज एक साथ ही सजतु हैं।
ज्योंही यह कोस को तजति है दुवाल त्योंही
वेऊ सब निज निज कोस को तजतु हैं॥
'दास' यह धारा को सजति जब जब तब
तब वै सकल अस्रुधारा को सजतु हैं।
या को तू कँपाइ कै भँजावत है ज्यों ज्यों
त्यों त्यों वेऊ कँपि कँपि ठौर ठौरनि भजतु हैं॥ ३७॥

हे रामजी, तुम्हारी तलवार ने वैरियों का ऐसा हाल कर दिया है कि दोनों काम साथ ही होते हैं, अर्थात् ज्योंही तलवार म्यान की खाली छोडती है त्योंही शत्रुगण अपने २ धनकोषों को त्यागते हैं (खजाना छोडकर भाग जाते हैं) और जब यह अपनी धार ठीक करती है, तब शत्रुगण अश्रुधारा सजते हैं (रोते हैं), जब तुम इसे लपलपाकर भाँजते हो तब शत्रु भी काँप काँपकर भाजते हैं (भगते हैं)।

'दास' की तीन अर्थ वाली अनोखी उक्ति देखिये। राम, कमल और तलवार तीनों पक्षों में इसका अर्थ लगता है—

कवित्त।

पानिप के आगर सराहैं सब नागर
कहत 'दास' कोस तें लस्यो प्रकासमान मैं।

रज के सँयोग सें अमल होत जब तब
हर हितकारी बास जाहिर जहान में ॥
श्री को धाम सहजै करत मन काम थकै
बरनत बानी जा दलन के विधान में।
एतो गुन देख्यो राम साहिब सुजान में कि
वारिज बिहान में कि कौसलति कृपान में ॥२८॥

१—राम-पक्ष में—श्रीराम बडे पानीदार हैं, जिन्हें सब चतुर नर सराहते हैं, और कोष (धन) से प्रकाशमान हे (बडे धनी हैं), कभी कभी रजोगुण से संयुक्त होकर शृङ्गारमय लीला करते हैं। शकर के हितकारी हैं, और उनका निवासस्थान जगत में जाहिर है। श्री-धाम है, सहज ही सबकी मनोकामना पूर्ण करते हैं, उनके दुष्ट-दलन के विधान का वर्णन करने सरस्वती भी थक जाती है। इतने गुण मने श्रीराम में देखे।

२—कमल-पक्ष में—कमल पानीदार (कान्तियुक्त) है, जिसे सब चतुर नर सराहते है, कमल-कोष से निकलते हैं, और जब पराग से युक्त और अमल होते हैं तब शङ्करजी पर चढाये जाते हैं (अत उनके हितकारी होते हैं), उनकी सुगध तो सन्सार में प्रसिद्ध ही है। श्रीलक्ष्मी का घर है ही (लक्ष्मी का वास कमल में है, ऐसा माना जाता है), सहज ही मन में काम को उद्दीप्त करता है, जिसके दलों का वर्णन करते कवि की वाणी थकती है (कवि लोग अनेक जगह कमल-दल की उपमा देते हैं)। ऐसे गुण मैंने सद्य प्रफुल्लित कमल में ही देखे।

—तलवार-पक्ष में—बड़ी पानीदार (आबदार) है, जिसे सब चतुर नर सराहते हैं, म्यान सहित खूब प्रकाशमान रहती है (तलवार खुद भी खूब चमकीली है और म्यान भी रत्न-जटित हो तो चमकीली होती ही है), जब रज के संयोग से निर्मल होती है (तलवार रज से साफ की जाती है) तब हर (शङ्कर) का हित करती है (वीरों के सिर काट काटकर मुण्डमाला बनाने को देती है) और उसकी वासना (तलवार की इच्छा अर्थात् मारकाट) सबको मालूम ही है। वह श्री भी दिलाती है—तलवार के द्वारा राजश्री प्राप्त होती है, सहज ही मनोकामना (वीर लोगों की) पूर्ण कर देती है और जिसके शत्रु-दलन के विधान का वर्णन करते कवियों की वाणी थकती है। ऐसे गुण तलवार ही में मैंने देखे।

कहिये पाठक! 'दास' जी की योग्यता की बानगी कैसी है?

'पद्माकर' जी ने रघुनाथराव (सागर-नरेश) की तलवार की करालता का वर्णन यों किया है—

कवित्त।

दाहन ते दूनी तेज तिगुनी त्रिशूलन ते
चिल्लिन ते चौगुनी चलाँक चक्र चाली तें।
कहै 'पदमाकर' महीप रघुनाथराव,
ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तें॥
पाँचगुनी पब्ब ते पचीसगुनी पावक ते
प्रगट पचासगुनी प्रलय प्रनाली तें।

साठगुनी सेल तें सहस्रगुनी स्रापन तैं
लाखगुनी लूक ते करोरगुनी काली तैं ॥३९॥

अर्थ सरल है। केवल तलवार की करालता द्रष्टव्य है।

---

(१५) ताजमहल ।

'दीन' कवि ताजमहल देखकर कहता है—

सवैया ।

ताज बिलोकत 'दीन' हिये कछु आय विचित्र विचार समाये।
हर्ष विषाद विराग व्यथा वस रोम उठे अँसुवा झलकाये॥
चारि मिनारन के मिस ज्यों कर शाहजहाँ-मुमताज उठाये।
टेरि कहैं जन लोगन सों उत ही सब जात जु हैं इत आये॥४०॥

ताज के रौजे को देखकर 'दीन' के हृदय में विचित्र प्रकार के विचार उठे। हर्ष, विषाद, वैराग्य और व्यथा के वश होकर रोमांच हुआ और आँसू आ गये। ताज के चारों मीनारों को देखकर 'दीन' के हृदय में यह विचार उठा कि मानो मीनारों के बहाने वहाँ गड़े हुए मुमताज बेगम और शाहजहाँ दोनों अपने २ हाथ उठाये (आकाश की ओर इशारा करते हुए) यह कह रहे हैं कि जो लोग दुनिया में आये हैं उन सबको एक दिन वहाँ (ईश्वर के घर) जाना होगा, अतः कोई रूप और वैभव का गर्व न करै।

पुनश्च—

कवित्त।

कैधौं वासुकी को अङ खंड टूटि परयो है आय,
चारिहू मीनार सो सँपोलन समाज है।
चारि भुजा धारि कै विराजो किधौं भूतनाथ,
जमुना निकट वहै मोई नागराज है॥
'दीन' कवि कैधौं चारि दन्तयुत देखियत,
ब्रज-तट इन्द्रगज मस्तक दराज है।
जग के समस्त सौधसघन को सिरताज,
भारत में राजि रह्यो आगरे को ताज है॥४१॥

यह आगरे का ताजमहल है या वासुकि नाग का अङ्डा है जो टूटकर यहाँ आ पड़ा है और चारों मीनार उससे निकले हुए सँपोले हैं, या चार भुज धारण करके यहाँ शिवजी ही आ विराजे हैं और निकट ही बहनेवाली यमुना शेषनाग है, या चारों दाँतों सहित यह व्रज के निकट ऐरावत का मस्तक है, या ससार भर की सारी इमारतों का सिरताज है।

पुन सुनिये—

कवित्त।

आगरे को हास, कै प्रकाश ब्रंस वायरी को,
कैधौं कला कौशल की रुचि को सुमेर है।
बिधु को मवास कै निवास मकराने को है,
खास वास आय कै विराजि गो कुबेर है॥
सेसहू को मढा किधौं हडा है हिमचल को,
सहित उमहा किधौं सिल्प को धजेर है।

साठगुनी सेस तें सहस्त्रगुनी स्रापन तैं
लाखगुनी लूक ते करोरगुनो काली तें ॥३९॥

अर्थ सरल है। केवल तलवार की करालता द्रष्टव्य है।

---

(१५) ताजमहल ।

'दीन' कवि ताजमहल देखकर कहता है—

सवैया ।

ताज बिलोकत 'दीन' हिये कछु आय विचित्र विचार समाये।
हर्ष विषाद विराग व्यथा वस रोम उठे अँसुवा झलकाये॥
चारि मिनारन के मिस ज्यो कर शाहजहाँ-मुमताज उठाये।
टेरि कहैं जग लोगन सो उत ही सब जात जु है इत आये॥४०॥

ताज के रौजे को देखकर 'दीन' के हृदय में विचित्र प्रकार के विचार उठे। हर्ष, विषाद, वैराग्य और व्यथा के वश होकर रोमांच हुआ और आँसू आ गये। ताज के चारों मीनारों को देखकर 'दीन' के हृदय में यह विचार उठा कि मानो मीनारों के बहाने वहाँ गड़े हुए मुमताज बेगम और शाहजहाँ दोनों अपने २ हाथ उठाये (आकाश की ओर इशारा करते हुए) यह कह रहे हैं कि जो लोग दुनिया में आये हैं उन सबको एक दिन वहाँ (ईश्वर के घर) जाना होगा, अतः कोई रूप और वैभव का गर्व न करे।

तानसेन पैदा होंगे और उनकी तान सुनकर शेषनाग जी सिर हिलावेंगे तो पृथ्वी गिरकर चूर्ण हो जायगी और संसार नष्ट हो जायगा।

'रहीम' के मत से तान वही है जिसे सुनकर चराचर मस्त होकर शीश हिलाने लगे। तानसेन की प्रशंसा और तान की परिभाषा कैसी युक्ति से की गई है।

(१७) दीपक।

'रहीम' जी दीपक पर कैसी अनूठी उक्तियाँ कहते हैं। सुनिये—

दोहा।

नवल वधू घर तें चली अचल दीप छिपाय।
कर न दिये करतार मोहि सीस धुनै पछिताय॥ ॥४४॥

अर्थ तो सरल है, पर इतना सरस है कि हम क्या कहें, पाठक ही समझें और यह भी देखें कि एक कवि की दृष्टि कैसी होती है।

पुनः दीपक बुझाने की रीति से 'रहीम' जी क्या शिक्षा निकालते हैं—

दोहा।

ज्यों रहीम दीपक दशा तिय राखत पट ओट।
समय परे पै होति है वाही पट की चोट॥ ४५॥

दशा = बत्ती, या लौ।

'दीन' कवि कल्पना की उज्वल मुँडेर बैधौं,
शाहजहाँ शाह की सुकीरति को ढेर है ॥४२॥

यह ताजमहल है या मुगल राज्य के समय वाले आगरा नगर का हास्य है, या बाबर के वंश की कीर्ति का प्रकाश है, या कला-कौशल की रुचि का भारी पर्वत है, या चंद्रदेव के रहने का मकान है, या मकराने की (मकराना उस स्थान का नाम है जहाँ की खान के संगमर्मर से ताज बना हुआ है) पोशाक है, या कुबेर ने एक खास महल बनवाकर यहीं आकर रहना पसंद किया है, या शेषनाग का अड्डा है, या हिमाचल राजा का चाँदी का हंडा है, या उत्साह-भरे भारत की कारीगरी का प्रकाश है, या कवियों की कल्पना की सीमा है, या शाहजहाँ की सुकीर्ति का ढेर है।

(१६) तान।

तान कैसी होनी चाहिये 'रहीम' के मुख से सुनिये—

दोहा।

विधना यह जिय जानि कै सेसहि दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलिहैं तानसेन की तान ॥ ४३ ॥

तानसेन की तान की प्रशंसा में रहीम कहते हैं कि ब्रह्मा ने यही सोचकर शेषनाग को कान नहीं दिये कि आगे

तानसेन पैदा होंगे और उनकी तान सुनकर शेषनाग जी सिर हिलावेंगे तो पृथ्वी गिरकर चूर्ण हो जायगी और संसार नष्ट हो जायगा।

'रहीम' के मत से तान वही है जिसे सुनकर चराचर मस्त होकर शीश हिलाने लगे। तानसेन की प्रशंसा और तान की परिभाषा कैसी युक्ति से की गई है।

(१७) दीपक।

'रहीम' जी दीपक पर कैसी अनूठी उक्तियाँ कहते हैं। सुनिये—

दोहा।

नवल वधू घर लै चली अचल दीप छिपाय।
कर न दिये करतार मोहि सीस धुनै पछिताय॥ ॥४४॥

अर्थ तो सरल है, पर इतना सरस है कि हम क्या कहें, पाठक ही समझें और यह भी देखें कि एक कवि की दृष्टि कैसी होती है।

पुनः दीपक बुझाने की रीति से 'रहीम' जी क्या शिक्षा निकालते हैं—

दोहा।

ज्यों रहीम दीपक दशा तिय राखत पट ओट।
समय परे पैं होति है वाही पट की चोट॥ ४५॥

दशा = बत्ती, या लौ।

कुसमय आने से रक्षक ही भक्षक हो जाता है। देखिये, चिराग की जिस लौ को कभी स्त्रियाँ अचल की ओट में छिपाती हैं समय बदलने पर उसी लौ को उसी अचल से बुझाती भी हैं।

(१८) नेता के गुण।

'दीन' की उक्ति है—

कवित्त।

प्रथम तो डूबैं अति दीनता के नीर माहिँ
फूलि सरसाहि जैसे हियरे जवान के।
तापै पुनि मूसर विरोधिन की चोटैं सहैं
भूसी सी निकार डारैं कर्म अविधान के॥
भूरि कष्ट ताप सहि राजविधि भार भुजै
बिपति की चक्की पिसि पोपैं प्राण आन के॥
हिन्दुन की लाज पति राखिवे को चाहियत
देश हितुवान में ये गुण सितुवान के॥४६॥

नेता में सत्तू के गुण होना चाहिये। पहले तो दीनता के पानी में भीगें (जैसे चना पानी में भिगोये जाते हैं) जिससे हृदय फूलकर सरस हो जायें (जैसे जवादि अन्न हो जाते हैं और जैसे युवाओं के होते हैं), फिर मूसर-चद् विरोधियों की चोटें सहें (जैसे जवादि मूसल से काँड़े

जाते हैं), गैरकानूनी काम भूसी की तरह छोड़ दें। कष्ट-रूपी ताप सहकर राजा के कानून भार में भुँजें, विपत्ति की चक्की में (सत्तू की तरह) पिसें, परन्तु दूसरों की प्राण-रक्षा करें। हिन्दुओं की लज्जा और प्रतिष्ठा रखने के लिये (लाला लाजपतिराय की तरह) देश-नेताओं में सत्तू के से गुण होना चाहिये।

यह उक्ति उस समय कही गई थी जब लाला लाज-पतिराय राजद्रोह के अपराध में देश-निकाले के दंड से दंडित हुए थे।

(१९) नौकरी।

'दीन' कवि की उक्ति में निरुक्ति की छटा देखिये—

हरष में हरष, विषाद में विषाद करी,
दोषहू की झूठिये प्रशंसा बार सौ करी।
करैं सो करन देत, देखतहू देखिये ना,
आँखिन के देखत अनेक बार भौं करी॥
हुकुम के पावत ही हाँ हुजूर हाजिर हौं,
आवत ही निकट डराय कै उठौ करी।
छीकत में चिरजीव, चुटकी जम्हाई लेत,
'दीन' जो ये नौ करी ताही की साँची नौकरी॥४१॥

कुसमय आने से रक्षक ही भक्षक हो जाता है। देखिये, चिराग की जिस लौ को कभी स्त्रियाँ अंचल की ओट में छिपाती हैं समय बदलने पर उसी लौ को उसी अंचल से बुझाती भी हैं।

(१८) नेता के गुण।

'दीन' की उक्ति है—

कवित्त।

प्रथम तो डूबैं अति दीनता के नीर माहिं
फूलि सरसाहि जैसे हियरे जवान के।
तापै पुनि मूसर विरोधिन की चोटैं सहैं
भूसी सी निकार डारैं कर्म अविधान के॥
भूरि कष्ट ताप सहि राजविधि भार भुजे
विपति की चक्की पिसि पोपैं प्राण प्रान के॥
हिन्दुन की लाज पति राखिवे को चाहियत
देश हितुवान में ये गुण सितुवान के॥४६॥

नेता में सत्तू के गुण होना चाहिये। पहले तो दीनता के पानी में भीगें (जैसे चना पानी में भिगोये जाते हैं) जिससे हृदय फूलकर सरस हो जायं (जैसे जवादि अन्न हो जाते हैं और जैसे युवाओं के होते हैं), फिर मूसर-वत् विरोधियों की चोटें सहें (जैसे जवादि मूसल से काँड़े

जाते हैं), गैरकानूनी काम भूसी की तरह छोड दें। कष्ट-रूपी ताप सहकर राजा के कानून-भार में भुँजें, विपत्ति की चक्की में (सत्तू की तरह) पिसें, परन्तु दूसरों की प्राण-रक्षा करें। हिन्दुओं की लज्जा और प्रतिष्ठा रखने के लिये (लाला लाजपतिराय की तरह) देश-नेताओं में सत्तू के से गुण होना चाहिये।

यह उक्ति उस समय कही गई थी जब लाला लाज-पतिराय राजद्रोह के अपराध में देश-निकाले के दड से दडित हुए थे।

(१९) नौकरी।

'दीन' कवि की उक्ति में निरुक्ति की छटा देखिये—

हरष में हरष, विषाद में विषाद करी,
दोषहू की झूठिये प्रशंसा बार सौ करी।
करै सो करन देव, देखतहू देखिये ना,
आँखिन के देखत अनेक बार भौ करी॥
हुकुन के पावत ही हाँ हुजूर हाजिर हौं,
आवत ही निकट डराय कै उठी करी।
छींकत में चिरजीव, चुटकी जम्हाई लेत,
'दीन' जो ये नौकरी ताही की साँची नौकरी ॥४१॥

कुसमय आने से रक्षक ही भक्षक हो जाता है। देखिये, चिराग़ की जिस लौ को कभी स्त्रियाँ अंचल की ओट में छिपाती हैं समय बदलने पर उसी लौ को उसी अंचल से बुझाती भी हैं।

(१८) नेता के गुण।

'दीन' की उक्ति है—

कवित्त।

प्रथम तो बूड़ैं अति दीनता के नीर माहिँ
फूलि सरसाहि जैसे हियरे जवान के।
तापै पुनि मूसर विरोधिन की चोटै सहैं
भूसी सी निकारि डारैं कर्म अविधान के॥
भूरि कष्ट ताप सहि राजविधि भार भुजै
विपति की चक्की पिसि पोयैं प्राण आन के॥
हिन्दुन की लाज पति राखिबे को चाहियत
देश हितुवान में ये गुण सितुवान के॥४६॥

नेता में सत्तू के गुण होना चाहिये। पहले तो दीनता के पानी में भीगें (जैसे चना पानी में भिगोये जाते हैं) जिससे हृदय फूलकर सरस हो जायँ (जैसे जवादि अन्न हो जाते हैं और जैसे युवाओं के होते हैं), फिर मूसर-चंद विरोधियों की चोटें सहें (जैसे जवादि मूसल से काँड़े

'नौकरी' का अर्थ 'नौ बातें करी' लगाकर कहते हैं कि—

(१) मालिक के हर्ष में हर्ष करो, (२) मालिक के शोक में शोक मनाओ, (३) उसके दोष (कुकर्म) की भी प्रशंसा करो, (४) मालिक जो कुछ करे करने दो, देखकर भी मत छेड़ो, (५) उसके सामने ऐसा वर्ताव करो जिससे वह जाने कि यह नौकर मुझे बहुत डरता है, (६) आज्ञा में हाजिर रहो, (७) यदि मालिक निकट आवै तो डरते हुए उठ खड़े हो जाओ, (८) मालिक छींके तो 'चिरंजीव' कहो, (९) जम्हाई ले तो चुटकी बजाओ। 'दीन' कवि कहता है कि जो व्यक्ति ये नौ काम करेगा उसीकी सच्ची नौकरी है, नहीं तो कच्ची बात है, क्योंकि नौकरी का अर्थ यही है कि ये "नौ बातें करी"।

---

(२०) पतंग (गुड्डी)।

दीन' की सूझ देखिये—

दोहा।

ऊँचे चढ़ि नीचे गिरत होत मान तन भंग।
याही भय कवि 'दीन' कह लरजत रहत पतंग ॥४८॥

'दीन' कहता है कि ऊँचे उड़ती हुई पतंग इस कारण थर्राती रहती है कि ऐसा न हो कि मैं कहीं नीचे गिर जाऊँ तो मान भी जाय और तन भी टुकड़े २ हो।

शिक्षा यह है कि ऊँचे पद पर पहुँचकर ईश्वर से डरते हुए उस ऊँचे पद का कार्य करना चाहिये, ऐसा न हो कि पद-च्युत होना पड़े और मान और शरीर दोनों की दुर्गति हो।

(२१) पद-कंदुक (फुटबॉल)।

'दीन' की उक्ति सुनिये—

दोहा।

पद-कंदुक के खेल तें 'दीन' सिखी यह बात।
सारहीन संसार में लातन मारे जात ॥ ४९ ॥

फुटबॉल के खेल से 'दीन' ने यह बात सीखी है कि सार-हीन व्यक्ति संसार में लात खाते फिरते हैं—जहाँ जाते हैं वहाँ लात खाते हैं।

(२२) पेट।

पेट की मोटमर्दी पर 'रहीम' की उक्ति सुनिये—

दोहा।

रहिमन कहत सु पेट सों क्यों न भयो तू पीठ।
रीते अनरीतें करै भरै बिगारत दीठ ॥ ५० ॥

'बिहारी' का सिद्धान्त सुनिये—

दोहा ।

जो न जुगुति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुख दीन।
जो लहिये सँग सजन तो धरक नरक हू की न ॥ ५५ ॥

जिस मुक्ति ग्राम में प्रिय के मिलन का आनद न हो उस मुक्ति पर धूल पड़े। प्रियतम का मिलन यदि नरक में भी हो तो उसका भी कुछ डर नहीं।

प्रेम का सच्चा सिद्धान्त यही है।

'रघुनाथ' कवि की शिक्षा सुनिये। मना करते हैं कि किसी से प्रेम मत करो, क्योंकि प्रेम से किसीको सुख कभी नहीं मिलता, इसमें केवल दुःख ही दुःख है।

कवित्त ।

यहि मति जानै है सहल कहै 'रघुनाथ'
अति ही कठिन रीति निपट कुढंग की।
याहि करि काहू काहू भाँति सो न कल पायो
देखियत तन मन मति बहुरंग की ॥
और हौं कहौं सो एक कान दैके सुन लीजै
प्रगट कही है बात वेदन के अंग की।
जब काहू प्रीति कीजै पहिले तें सीख लीजै
बिछुरन मीन की औ मिलन पतंग की ॥५६॥

प्रेम करने को सरल बात मत समझो। यह अति कठिन और कुढंगी रीति है। इसमें किसी भाँति का सुख नहीं मिलता, वरन तन, मन और मति कुछ और ही तरह की

रगत ग्रहण करनी हैं। और, एक मुख्य बात कहता हूँ, उसे सुन लीजिये, केवल मैं ही नहीं कहता, वरन वेदों ने भी ऐसा ही कहा है कि यदि प्रेम करना ही हो, तो पहले ही से वियोग में मछली की तरह तड़पने और संयोग में पतंगे की तरह जल जाने का ढंग सीख लेना चाहिये।

वास्तव में प्रेम बड़ा ही कठिन व्यापार है।

'जल और पृथ्वी का प्रेम है' इस बात को मानते हुए 'प्रयागनारायण' जी कहते हैं—

देखो जाको प्रेम जासु सँग ताहि तौन ही भावै।
जल जुड़ात माटी की गगरी सोन कलस गरमावै ॥५७॥

देखो भाई! जिसका जिससे प्रेम है उसे वही भाता है (चाहे नीच हो वा ऊँच)। जल का पृथ्वी से प्रेम है, अत जल मिट्टी के घड़े में ठढा रहता है और वही यदि सुवर्ण के घड़े में रखा जावे तो अप्रीति के कारण सतप्त हो जाता है।

साधारण अनुभव से कैसा अच्छा काम लिया गया है।

'रहीम' की बात सुनिये—

प्रेमी केवल जीवन भर ही नहीं, मरने पर भी उसी की चाह रखता है। मछली का प्रेम पानी से है, अत

दोहा।

मीन काटि जल धोइये खाये अधिक पियास।
'रहिमन' प्रीति सराहिये मुयो मित्र की आस ॥ ५८ ॥

मछली मारे जाकर काटे जाने पर भी जल ही से स्वच्छ होती है और पकाकर खाये जाने पर (प्यास के मिस) पुन पानी ही की इच्छा रखती है।

पुन. एक दूसरा कवि भी 'रहीम' के कथन को दुहराता है—

दोहा।

प्रेमी प्रीति न छाँड़हीं होत न प्रन ते हीन।
मरे परे हू उदर में जल चाहत है मीन ॥ ५९ ॥

अर्थ सरल है। तात्पर्य वही है जो 'रहीम' का है।

(२४) फूट।

गंग कवि की शिक्षा सुनिये—

कवित्त।

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषन है
रावन समेत वश आसमान को गयो ॥
कहै कवि 'गंग' दुरयोधन से छत्रधारी
तनक में फूटे ते गुमान वाको नैं गयो।
फूटें तें नरद उठि जात बाजी चौसर की
आपुस में फूटें कहो कौन को भलो भयो ॥ ६० ॥

हीरे के फूटने पर वे कनियाँ थोड़े मूल्य पर बाजार बाजार बिकती फिरती हैं, विभीषण के फूटने से लंका पराजित हुई और रावण का वंश नष्ट हुआ, फूट से दुर्योधन ऐसे राजा का गर्व नष्ट हो गया, युग फूटने से ही चौसर के खेल में गोट मारी जाती है। नतीजा यह निकलता है कि आपस की फूट से किसीका भला नहीं हो सकता।

कैसा अच्छा उपदेश है।

---

(२५) फौवारा (फुहारा)।

एक कवि जी फौवारे पर उक्ति कहते हैं—

सवैया।

है जलजंत्र कै मोहनी मन्त्र बसीकर सीकर को अवली सों।
कै ससि के हित मोद भरो जल जात अकास है भूमियली सो॥
कै मुकुताफल को विरवा कि रच्यो विधि फूल जलेश रली सो।
कंज सनाल ते कै मकरंद चल्यो तरराय कै भाँति भली सो
॥ ६१ ॥

यह फौवारा है, या मोहनी मन्त्र है, या बूँदों की कतार के कारण यह कोई वशीकरण का उपचार है, या चन्द्रमा के प्रेम से पृथ्वी का सारा जल आकाश को जा रहा है, या यह मोतियों का वृक्ष है. या ब्रह्मा ने वरुणदेव

के खेलने के लिये यह लाल का फूल (गुलदस्ता) बनाया है, या सनाल कमल से मकरंद की छींट जोर से चल रही है।

सूझ अच्छी है।

(२६) बन्दूक।

सवाई महाराजा सावंतसिंह (बिजावर-नरेश) की बंदूक की प्रशंसा में यह उक्ति है—

कवित्त।

गोली और गज को गजक सम खाय जाय
प्याले मे उड़ाय जाय दारू अति चोखी है।
ठाँय ठाँय करि दुष्ट जीवन चबाय जाय
सरला दिखाय पै बड़ी विचित्र शोखी है॥
जनम ते आजु लौं अनेक जीव खाय डारे
ताहू पै न भरी नार ऐसी असंतोषी है।
सूधी होत जा दिसि विधाता ताहि टेढ़ो होत
'साँवल सवाई' तेरी तुपक अनोखी है॥ ६२॥

गोली और गज को गजक की भाँति खा जाती है, प्याले की अति चोखी दारू भी उड़ा जाती है। ठाँ ठाँ शब्द करके दुष्ट जीवों को चबा जाती है, देखने में बड़ी सीधी है, पर है बड़ी चंचला। जन्म के दिन से लेकर आज तक जीव खा डाले, पर इतने पर भी इसकी नार न भरी,

इतनी भुक्कड है। हे महाराजा सावतसिंहजी ! इसमें यह एक बड़ी ही विचित्र बात है कि जिस ओर यह सीधी होती है उससे ब्रह्म धाम हो जाता है।

प्याला, दारू, और नार शब्दों की खूबी पर विचार कीजिये।

—— ० ——

(२७) बतरस।

बतरस का मजा 'बिहारी' के मुख से सुनिये—

दोहा।

बतरस लालच लाल की-मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै देन कहै नटि जाय॥ ६३॥

किसी गोपी ने बतरस की इच्छा से (बात करते हुए प्रेमी की बातों का मजा लेने के लिये) कृष्ण की बंशी कहीं छिपा दी है। जब कृष्ण ने उससे बंशी के बारे में पूछताछ की तो शपथ करके कहती है, मैं नहीं जानती, फिर भौंहों में हँसती है, फिर पूछने पर देने कहती है, फिर इनकार कर जाती है (मैं नहीं जानती) जिससे कृष्ण बार बार पूँछते हैं। इस प्रकार कृष्ण से बड़ी देर तक बातचीत करना चाहती है।

हे बंशीधर ! ऐसा करो कि इस पुस्तक के पाठकों को कवियों के बतरस का चसका लग जाय। मेरा परिश्रम भी सफल हो जाय।

और सुनिये—

सवैया ।

चाँपि चढे घन व्योम मढे बरसैं सरसैं करि के प्रन गाढे।
ऐसे समय रघुनाथ कौ सौं घर ते पग बाहर जात न काढे॥
श्रीवृषभानकुमारि मुरारि सखी तेहि औसर प्रेम के बाढे।
पातन को छतना सिर दै दोउ बातन के रस भीजत ठाढे
॥ ६४ ॥

बादल घिरे हुए हैं। खूब ज़ोर से पानी बरस रहा है। ऐसा समय हो रहा है कि कोई घर से बाहर नहीं निकलता, पर ऐसे समय में भी हे सखी! मैंने देखा है कि प्रेमाधिक्य के कारण श्रीराधिका और कृष्ण वृन्दावन में पत्तों के छाते लगाये हुए, बतरस में पडे बातें कर रहे हैं और खडे खडे भीग रहे हैं। बातों के रस में ऐसे निमग्न हैं कि भीजने की कुछ खबर नहीं।

बेशक, प्रेमवार्त्ता ऐसी ही होती है।

---

(२८) भवितव्यता।

लाला सीतारामजी भवितव्यता (होनहार) पर कहते हैं—

सवैया ।

एकन को भरिपूर करै अरु एकन छुच्छ बनावती है।
ऊँचे उठावति एकहि एकहि खैंचि कै नीचे गिरावती है॥

साथ किये हितु बैरिन को यह लोक की रीति जनावती है।
कूप की यन्त्रघरी सी सबै भवितव्यता नित्य नचावती है
॥ ६५ ॥

होनहार सबको रहॅट की घरियों की तरह नचाया करती है। एक को भरती है, एक को खाली करती है, किसीको ऊपर उठाती है, किसीको नीचे गिराती है। हितू और वैरी सबका साथ देती है और अपने इस कर्तव्य से लोक-रीति की शिक्षा देती है। अत- यह कूप-यन्त्र (रहॅट) के समान है।

कैसा प्रत्यक्ष उदाहरण है। कैसी शान्ति-प्रद शिक्षा है। ऐसी ही कविता लोगों का उपकार करती है, व्याकुल को धीरज बँधाती है और कवियों को आनद देती है।

---

(२९) मन।

'मन' किसको देना चाहिये इसपर 'देव' जी की बात सुनिये—

सवैया।

गाँठिहु ते गिरि जात गये यह पैये न फेरि जु पै जग जोव।
ठौरहि ठौर रहैं ठग ढाढेई पीर जिन्हैं न हँसै छिन रोव॥
दीजिये ताहि जो आपनमो करै देव कलकनि पकनि धोव।
बुद्धि वधू को बनाय कै सौंपु तू मानिक सो मन धोखे न खोवै
॥ ६६

यह मन किसी ओर जाने से (किसीपर अनुरक्त होते ही) गाँठ में बँधी हुई वस्तु की तरह गिर जाता है, फिर संसार भर खोज डालने से भी नहीं मिलता, और, इस संसार में जगह जगह ऐसे ठग खड़े ही रहते हैं जिन्हें "जरा भी दया नहीं आती, चाहे तुम हँसो चाहे रोओ"। अत: तुम्हें चाहिये कि यह मन तुम उसे दो जो इसे अपना समझे और कलंक न लगने दे। इसे बुद्धि-रूपी स्त्री को सौंपो, इस माणिक-रूपी अनुरागी मन को धोखे में खो मत दो। तात्पर्य यह कि समझ-बूझकर किसीसे अनुराग करो।

कैसी अच्छी शिक्षा है!

पुन: 'देव' जी मन प्रति कहते हैं—

कवित्त।

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि
चाबुक चितावनिन मारि मुहँ मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधावर-विरुद के वारिधि में बोरतो॥६७॥

जो मैं जानता कि तू मुझे छोड़कर विषय के संग ही [illegible] जायगा तो मैं तेरे हाथपैर तोड़कर तुझे पंगु-लुंज कर डालता, राजाओं की नाहीं सुनकर फिर उनका मुख न देखता। हे चंचल, तुझे अचल (लँगड़ा) कर देता और

चेतावनी के चाबुक मार मारकर तुझे उस ओर से लौटाता और नगाड़े की चोट दे भारी प्रेम-पत्थर तेरे गले से बाँध कर श्रीकृष्ण के सुयश-समुद्र में डुबा देता।

कवि के इस अनुभव से पाठकों को शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। राजाओं को खुश करने में अपनी प्रतिभा ख़र्च करने के बदले कृष्ण या रामचरित्र-गान में ही कवि,को अपनी प्रतिभा लगानी चाहिये।

'रसनिधि' जी कहते हैं—

दोहा।

उड़त फिरत जो तूल सम जहाँ तहाँ बेकाम।
ऐसे हरुये को धरयो कहा जानि मन नाम॥ ६८॥

जो 'मन' रुई की तरह जहाँ-तहाँ उड़ता फिरता है उसका नाम न जाने क्या समझकर लोगों ने मन रखा है (मन तो ४० सेर का वजनी होता है)।

---

(३०) मसि भीजना।

'आलम' जी के वचन सुनिये। कृष्ण की मसि भीज रही है अर्थात् रेख निकल रही है। इसपर कवि उत्प्रेक्षा करता है—

सवैया।

नंदलला मुखचंद चढ़ी छवि कोटिन्ह चंदकला पचि हारी।
आलम काम को काम यहै ब्रजबाम
के काम की कामना टारी॥

सुन्दर नासिका पास रही अध
भीजति सी मसि सोभित भारी।
पंडुक कंठ नवीन उठे प्रगटी मनो कीर के कंठ की कारी ॥६८॥

कृष्ण के मुख की छवि बढ़ रही है, चन्द्रमा भी लज्जित हो रहा है। काम ने अब यह काम करना शुरू कर दिया है कि गोपियों के मन को गृह-काज में नहीं लगने देता। कृष्ण की सुन्दर नासिका के नीचे मूँछों की रेख निकल रही है। उसकी ऐसी शोभा है मानो पंडुक का कंठ फूट रहा हो और उसके गले में शुक-कंठ के कंठ की कालिमा प्रगट हो रही हो।

'आलम' जी की दूसरी उत्प्रेक्षा सुनिये—

सवैया।

वर सुन्दर नंदकिसोर तरंगनि अंग को संग अनंग गह्यौ।
महिला सब मोहि रहीं महि की
भनै 'आलम' रूप महा उमह्यौ॥
मसि भीजति कान्ह के आनन में
लखि स्याम सी रेख को भेप कह्यौ॥
छवि पूरन इन्दु के मध्य मनो
दुतिया के सरूप ह्वै राहु रह्यौ॥९७॥

कृष्णजी युवक हो रहे हैं। सुन्दरता की तरंगों में काम आ मिला है। इतना रूप-सौन्दर्य उमड़ रहा है कि संसार की स्त्रियाँ मोहित हो रही हैं। मसि भीजने की श्याम रेखा देखकर जान पड़ता है मानो छवि-रूपी पूर्णेन्दु के मध्य में राहु दूज के चन्द्रमा का आकार बनाकर आ बैठा है।

कैसी अच्छी उत्प्रेक्षा है। आलम के कथन में जादू सा जान पड़ता है।

अब एक मसखरे कवि की उक्ति सुन लीजिये—

दोहा।

मसि भीजत लखि युवक मुख समुझि परत है येह।
अब कारो मुख करन की दीन्हीं सनद स्मदेह ॥ ३१ ॥

युवाओं के मुख पर मसि भीजते देख यह समझ पडता है कि मानो कामदेव ने इस बात की सनद दे दी है कि अब तुम मुहँ काला करने के योग्य हो गये।

मुहँ काला करना = पर-स्त्री प्रसग करना।

मुहावरे का जोर और उक्ति की निलक्षणता अवश्य सराहनीय है। बात सच्ची है, पर शुष्क-हृदयों को अश्लील जँचैगी।

---

(३१) मृदंग।

'दीन' का कथन सुनिये—

दोहा।

राजी होय न जगत में को जन भोजन पाय।
मिरदगहु मुख लेप लहि मधुरे सुरन बताय ॥ ३२ ॥

मृदंग से शिक्षा लेकर कहते हैं कि संसार में भोजन पाकर कौन ऐसा है जो राजी न हो जाय। देखो, जड़ मृदंग भी आटे का लेप पाकर मधुर स्वर से बोलता है।

पुन- एक दूसरा कवि कहता है—

चेतन होयँ न एकसुर कैसे बनैं बनाव।
जड़ मृदग बेसुर भये मुहँ थपेरे खाइ ॥ ९३ ॥

यदि चेतन जीव (मनुष्य-गण) एक स्वर न हों—परस्पर मेल न रखें, तो काम कैसे बनेगा ? देखो, जड मृदग भी बेसुरा होने पर मुहँ पर थप्पड खाता है।

(३२) मेहँदी।

स्त्रियाँ सावन में मेहँदी क्यों लगाती हैं ? 'दीन' का अनुमान सुनिये। सच्चा तो नहीं, पर मजेदार अवश्य है—

सवैया।

छिपे रुस्तम हैं यह भाव अरै दृग घूँघुट ओट छिपावन में।
हम हैं धमबाज यही कहतीं बिछिया घूँघरू बजि पावन में॥
कवि 'दीन' भनै वहु भाव अहैं तरुणीगण के प्रिय हावन में।
यहु खून किये हैं जतावन को मेंहदी धार लावतीं सावन में
॥ ९४ ॥

स्त्रियाँ घूँघट में अपने नेत्र छिपाती हैं, इससे यह प्रगट करतीं हैं कि ये नेत्र छिपे रुस्तम हैं (प[illegible] हैं,

छिपकर वार करते हैं), बिछिया और घूँघुरू बज बजकर यह जताती हैं कि हम बड़ी चालबाज हैं (चालाक हैं, और चलन से बजती हैं), स्त्रियों के हावों से अनेक भावों का प्रकाशन होता है। हाथों में मेहँदी लगाने का यह भाव है कि इन हाथों ने सैकड़ों ख़ून किये हैं (इनसे बचे रहना, ये बड़े खूनी हैं)।

इतना जता देने पर भी लोग इनसे नहीं बचते—इनके फंद में पड़ते ही हैं।

मेहँदी लगाते समय, मोम से पपीहे की शकल बनाकर मेहँदी लगाई जाती है। तब पपीहे की शकल हाथ में दिखाई देती है। इसपर 'दीन' की उक्ति सुनिये—

कैधौं प्राणपखेरू पिय के निज हाथन करि राखे।
कै अपने कर कर पपिहा कहँ विरहिन हित अभिलाखे॥
कै भावी वियोग-भय अपने प्राणपखी कर लीन्हे।
कै पपिहा लिखि निज कर कजन राधे मेहँदी दीन्हे॥९५॥

यह पपीहा की शकल लिखकर राधिका ने मेहँदी लगाई है, या सचमुच अपने प्रिय कृष्ण के प्राण-पखेरू को ही अपने हाथों में कर लिया है, या वास्तविक पपीहा को ही पकड़ रक्खा है जिससे बोल बोलकर विरहिनियों को सता न सके, या भावी वियोग के डर से अपने ही प्राण-पखेरू अपने हाथ में लिये है। यह है क्या?

पाठक स्वय इन अनुमानों पर विचार करें, हम क्या कहें।

मोम की बुंदियों से साँतिया (स्वस्तिक) की शकल बनाकर मेहँदी लगाई जाती है। सारा हाथ लाल और बुंदकियों का स्थान सफेद रहता है। इसपर 'दीन' के अनुमान सुनिये—

विद्रुम पीठ माहिँ कै राजत मुकुलागण मनहारी।
कै सरोजदल पै छवि छाजत अमित ओसकण भारी॥
रतनारे मखमल पै कैधौं कुंदफूल छिटकाये।
मेहँदीयुत राधे के कर धौं सँतियाबुंद सोहाये॥ ९६॥

मेहँदी लगे हुए राधिका के हाथों में यह बुंदकी-मय साँतिया है, या मूँगे के पीढ़े पर मोती रखे हैं, या कमल-दल पर ओस-कण हैं, या लाल मख़मल पर कुन्द के फूल छिटके हुए हैं।

पुन 'दीन' की उक्तियों का मजा लीजिये—

शेर।

है हरी ऊपर मगर अतस है लाल।
है य जादू की जगाई मेहँदी॥
ख़ूनी होते हैं जगत के सब्ज रंग।
दे रही है यह दुहाई मेहँदी॥ ९७॥

दिल में रखना चाहिये अनुराग को।
सीख देती है सुहाई मेहँदी॥
पैर पड़ पड़कर पकड़ लेती है कर।
छल में बामन से सवाई मेहँदी॥ ९८॥

कुन्न से छूटी कूटकर पीसी गई।
२ तेरे पद छूने पाई मेहँदी॥

कष्ट से मिलता है जग में इष्ट पद।
बात यह साँची बताई मेहँदी ॥ ७९ ॥

हम क्या कहें, पाठक स्वयं मजा लें और चाहे दाद दें या निंदा करें, हमें तो जो कुछ कहना था कह चुके।

(३३) मोटर।

आजकल मोटरें खूब दौड़ती हैं। 'दीन' कवि इन्हें क्या समझता है सो सुनिये—

दोहा।

अति प्रबला अति चचला, सदा नेह आधार।
चक्र-पाणि अनुगामिनी, रमा कि मोटरकार ॥८०॥

यह तो अति प्रबला है, अति चचला है, सदा इसे नेह ही (तैल, पेट्रोल या स्नेह) का आधार है, और चक्रपाणि विष्णु या ड्राइवर की (जो गोलाकार हैंडिल पकड़े रहता है) अनुगामिनी है—जहाँ वह ले जाता है वहीं जाती है, अतः यह लक्ष्मी है या मोटरकार?

"कविता का युग गया" कहनेवाले देखें कि ये उक्तियाँ कविता कही जा सकती हैं या नहीं?

पुन. 'दीन' कवि मोटरकार को एक वियोगिनी के रूप में देखता है—

सवैया।

भोंपू की हाय कराय हिये सिर नाय कुरंग मलीन पिछौरी।
धौंकत साँस कुवास भरी अरु धूरि उड़ावत घूँघुर धौरी ॥

मोम की बुंदियों से सॉंतिया (स्वस्तिक) की शकल बनाकर मेहँदी लगाई जाती है। सारा हाथ लाल और बुंदकियों का स्थान सफ़ेद रहता है। इसपर 'दीन' के अनुमान सुनिये—

विद्रुम पीठ माहिँ कै राजत मुकुतागण मनहारी।
कै सरोजदल पै छवि छाजत अमित ओसकण भारी॥
रतनारे मखमल पै कीधौं कुंदफूल छिटकाये।
मेहँदीयुत राधे के कर धौं सँतियाबुंद सोहाये॥ ७६॥

मेहँदी लगे हुए राधिका के हाथों में यह बुँदकी-मय सॉंतिया है, या मूँगे के पीढ़े पर मोती रखे हैं, या कमल-दल पर ओस-कण है, या लाल मखमल पर कुन्द के फूल छिटके हुए हैं।

पुनः 'दीन' की उक्तियों का मज़ा लीजिये—

शैर।

है हरी ऊपर मगर अन्दर है लाल।
है य जादू की जगाई मेहँदी॥
खूनी होते हैं जगत के सब्ज रंग।
दे रही है यह दुहाई मेहँदी॥ ७७॥
दिल में रखना चाहिये अनुराग को।
सीख देती है सुहाई मेहँदी॥
पैर पड़ पड़कर पकड़ लेती है कर।
छल में बामन से सवाई मेहँदी॥ ७८॥
कुल से छूटी कूटकर पीसी गई।
तब तेरे पद छूने पाई मेहँदी॥

कष्ट से मिलता है जग में इष्ट पद।
बात यह साँची बताई मेहँदी ॥ ७९ ॥

हम क्या कहें, पाठक स्वयं मजा लें और चाहे दाद दें या निंदा करें, हमें तो जो कुछ कहना था कह चुके।

---

(३३) मोटर।

आजकल मोटरें खूब दौड़ती हैं। 'दीन' कवि इन्हें क्या समझता है सो सुनिये—

दोहा।

अति प्रबला अति चंचला, सदा नेह आधार।
चक्र-पाणि अनुगामिनी, रमा कि मोटरकार ॥८०॥

यह तो अति प्रबला है, अति चंचला है, सदा इसे नेह ही (तैल, पेट्रोल या स्नेह) का आधार है, और चक्रपाणि विष्णु या ड्राइवर की (जो गोलाकार हैंडिल पकड़े रहता है) अनुगामिनी है—जहाँ यह ले जाता है वहीं जाती है, अतः यह लक्ष्मी है या मोटरकार?

"कविता का युग गया" कहनेवाले देखें कि ये उक्तियाँ कविता कही जा सकती हैं या नहीं?

पुनः 'दीन' कवि मोटरकार को एक वियोगिनी के रूप में देखता है—

सवैया।

नेह की लाय लगाय हिये सिर नाय कुरंग मलीन।
छोड़त साँस कुबास भरे धरि उष्णावत धूँ

हूक उठे तब कूक करै कोउ रोकत ताहि पछारत ठौरी।
'दीन' गलीन में दौरी फिरै यह मोटर कैधौं वियोगिनी बौरी॥ ८१॥

नेह (प्रेम, और तैल) की अग्नि हृदय में लगी हुई है, सिर पर एक मलीन चादर है, दुर्गंधित स्वाँस छोडती है, और जहाँ-तहाँ धूर उडाती फिरती है, गली गली (विरह से व्याकुल) दौडती फिरती है। 'दीन' कवि कहता है कि यह मोटर है या कोई वियोगिनी स्त्री है जो पागल हो गई है?

यह गाडी 'मोटर' क्यों कहलाती है? 'दीन' की निरुक्ति-मयी उक्ति सुनिये—

कवित्त।

बडे गरबीले स्वच्छ सुन्दर सजीले नैन,
अति चमकीले देखि चकाचौंध आवै है।
हिये मे सनेह आँच, बात यह जानो साँच,
काँच ही के घूँघट मे वदन छिपावै है॥
बड़ी प्रबला है नवला है चपला है सदा,
छोटे छोटे नरन को दूरि ही भगावै है।
मोटे मोटे नरन को छाती पै चढावै नित्य,
'दीन' कवि याही हेत मोटर कहावै है॥८२॥

इसके बडे बडे स्वच्छ सजीले नेत्र हैं जिन्हें देखकर लोगों के नेत्र चौंधिया जाते हैं। हृदय में स्नेह की आँच (तैल की आग) है, मुख पर काँच का पर्दा है, यह बडी प्रबला है, नवला है (नवीन ईजाद है ही), चंचला है, छोटे आदमियों को दूर भगाती है, केवल मोटे मोटे आदमियों

को अपनी छाती पर चढ़ाती है, इसी कारण इसका नाम मादर (मोदर = मोदक = मोदों की) है।

---

(३४) मोती।

गोकुलनाथजी कहते हैं—

सवैया।

हीरे बेदाय छिलाय के आगनि हाट अनेक फिरे न बिराने।
'गोकुलनाथ' सनाथ के हूबे को हेत हो मन में नानाधाने॥
आपुन कोदर में बसिबे को, ये पाहों ने नारें हाथ बिकाने।
भाग नसो मुकसान को ये, भू [illegible] है [illegible] को लपटाने॥ ८३॥

मोती ने हृदय छिदाकर अपने [illegible] ये छिदाकर अनेक बाज़ार घूम डाले, पर कोई अच्छा [illegible] रहने को न मिला, तब सनाथ होने के लिये यह [illegible] [illegible] ने होन आपने। देखकर उसका मन ललचाया [illegible] दिन लगा [illegible] तो अच्छा हो। इसीसे मोती आप [illegible] हाथ [illegible] भाग्य तो देखो यह मोती अब हार [illegible] बिका रहा है (कहाँ तो केवल हाथ छूना [illegible] से कुच-स्पर्श प्राप्त हुआ)। [illegible] [illegible] [illegible]

बेसर का मोती नट है। 'आलम' कवि का प्रमाण मानिये और इस नाट्य को देखिये—

कवित्त।

घूँघट जवनिका है कारे कारे केस निसि
कुटिला जराय जरे दीपक उजारी है।
उघट किलक कटि किंकिनी नूपुर बाजे
नैना नटनायक लकुट लटधारी है॥
'आलम' सुकवि कहै रति विपरीत समै
श्रमबिंदु अंजुलि पुहुप भरि डारी है।
अधर सु रंगभूमि नृपति अनंग आगे
नृत्य करै बेसर को मोती नृत्यकारी है॥८४॥

नायिका का घूँघट ही नाट्यशाला का पर्दा है, केश ही रात्रि हैं (क्योंकि नाट्य तो रात में ही होते हैं), जड़ाऊ कर्णफूल ही दीपक हैं। नायिका की मधुर किलक ही तान की उघट है और किंकिणी का शब्द ही नूपुर का बजना है, नेत्र ही प्रधान नट है (जो नाट्य करना सिखाता है), लट-रूपी छड़ी लिये वह नाट्य सिखाता है, विपरीत-रति-समय श्रमबिंदु गिरते हैं, वही पुष्पांजलि है। ओठ ही सुन्दर रंगभूमि (स्टेज) है और यह बेसर का मोती नट है जो काम-राजा के आगे नाट्य कर रहा है।

'बिहारी' बेसर के मोती पर डाह खाते हैं—

दोहा।

बेसर मोती धन्य तू को पूँछै कुलजाति।
पीबो करि तिय अधर को रस निधरक दिनराति॥८५॥

हे वेसर के मोती! तू ही धन्य है। तेरी जाति क्या है और तू किस कुल का है यह कौन पूँछता है। निशंक होकर रातदिन नायिका के अधर का रस पिया कर। तेरी बडी किसमत है। (हम कुलीन ब्राह्मण होकर जिस अधर-रस को न पा सके उसे तू नीचगामी जल का पुत्र होकर पीता है, तू धन्य है)।

कान के मोती की करामात देखिये—

दोहा।

मुकुत भये घर खोइ कै बैठे कानन आय।
अब घर खोवत और के कीजे कौन उपाय॥ ८६॥

अपना घर खोकर मुक्त हुए (सीप से निकाले जाने पर मुक्ता कहलाये), कानन (कानों, और जगल) में आ बैठे, तब भी दूसरे का घर बिगाडते हो (देखनेवालों का घर छुडाते हो)। ऐसा भला आदमी ऐसा काम करे तो कौनसा उपाय है?

(नथ-मोती)

नथ के दो मोती 'प्रवीन बेनी' जी को क्या मालूम होते हैं—

कवित्त।

और आभरन अब काहे को सजत बीर
एक ही में बाढी अंग अंग छबि तुद है।
देखि देखि सौतिन रतन जुत जोतिन के
छोरि छोरि भाँजे तोरि रेसम के फुंद है॥

तेरी नथनी के दोउ मुकुता 'प्रवीन बेनी'
सोभा के सदन ऐसो बदन निसुन्द हैं।
सरद ससी के उर बसि न सकत क्यों हूँ
ज्वैही परयो चहत सुधा के बिबि बुंद हैं ॥८७॥

कोई सखी नायिका से कहती है कि और आभूषण क्यों पहनती हो, एक इस नथ से ही तो गजब हो रहा है। इसे देखकर सौतों ने अपने सब गहने व्यर्थ समझ तोड़कर मोती निकालकर फेंक दिये। तेरी नथुनी के दो मोती बड़े ही शोभाप्रद हैं। वे तेरे मुख पर ऐसे जान पड़ते हैं मानों शरद-चन्द्रमा से अमृत की दो बूँदें टपकना चाहती हैं।

वाह री दृष्टि! वाह री सूझ!!

एक कवि बेसर के मोती की हृदय भेदी वेदना का वर्णन कैसी अनोखी रीति से करता है—

दोहा।

जा कारण सरवर तज्यों निज उर लियों छिदाय।
अजहुँ न अधरहि छुइ सक्यो लटकि लटकि जिय जाय ॥८८॥

मोती कहता है कि जिस इच्छा से मैंने मान-सरोवर छोड़ा (जन्मभूमि छोड़ी) और हृदय भी छिदा डाला वह इच्छा अबतक पूरी न हुई। अबतक मैं उसके अधर को न छु सका, केवल अधर ही में लटके लटके प्राण जाते हैं।

'कुलपति मिश्र' मोती को धीरज धराते हैं—

दोहा ।

उर बेधत पानिप हरत मुक्ता जनि कदराय।
नाक वास लहि है गुनी दै अधरन सिर पाय ॥८९॥

हे मुक्ता! हृदय छिदाते और पानी उतारते तू कायर मत हो। ऐसा हो जाने पर तू गुण-युक्त होकर अधर पर पैर रखकर नाक में वास पावेगा।

बड़े ही मजे की उक्ति है। श्लेष से इसका अर्थ जीवन-मुक्त लोगों पर भी लगता है, पर यहाँ उसका प्रसग नहीं, अत उसे छोड़े देते हैं।

---

(३५) रसना (जीभ)।

'नूर' जी की प्रतिभा का प्रकाश देखिये। आश्चर्य है कि इस जीभ का नाम रसना (रस+ना) क्यों पड़ा—

कवित्त।

कोकफला पढ़िवे की पोथी सी बनाई काम,
कैधौं नवो रसन की भूमि उपजाई है।
परम प्रवीन रूप भारती है मेरे जान,
कंठ ते निकसि मुख वारिज में धाई है॥
प्रेम कैसो जन्त्र है मयक मुख सपुट मे,
पूछे कहि बोलै 'नूर' एती प्रभुताई है।

रानी पट रसन की सुबरन उरमानी,
एते रस सानी तऊ रसना कहाई है ॥८७॥

इसको तो काम ने कोक-कला पढ़ने की पोथी सी बना रखा है, या यह नव रसों की भूमि सी है (नव-रस-मय कविता इसीसे पैदा होती है)। मेरी समझ में तो यह साक्षात् सरस्वती-रूप है जो कंठ से निकलकर मुख-कमल पर आ विराजी है, या चंद्रसमान मुख-संपुट में वह प्रेमयंत्र के समान है, पूछने पर कुछ कहती-बोलती भी है, षटरसों की रानी ही है, सुबरन (सोना वा सुन्दर अक्षरों) से मढ़ी है। इसमें तो इतने रस हैं, पर तो भी लोग इसे न जाने क्यों रसना (रस-हीन) ही कहते हैं।

बेशक आश्चर्य की बात है। लोग बौराये हैं।

(३६) राखी।

'रक्षाबंधन' हिन्दुओं की एक बहुत ही पुरानी और प्रेम-प्रकाशक प्रथा है। 'आनंदघन' जी प्रेमाधिक्य से नेत्रों को रूप की राखी बँधाते हैं—

सवैया।

पानिप मोती मिलाय गुही गुन पाट पुही सु जु ही अभिलाषी।
नीके सुभाय के रंग भरी हित जोति खरी न परै कछु भाषी॥

चाह ले बाँधीहै प्रीति की गाँठिसो है'घनआनँद'जीवन साखी
नैनन-पानि विराजत जान जो रावरे रूप अनूप की राखी
॥ ९१ ॥

हे 'जान' (प्रियतम)! मेरे नेत्रों के हाथों में जो आपके रूप की राखी बँधी है वह ऐसी है—

आपके रूप की कान्ति के आबदार मोती आपके गुण-रूपी रेशमी डोरे में गुँथे हैं। ऐसा मैं चाहता ही था। आपके सुशील के रंग से रँगी भी है, उसमें प्रेम की ऐसी चमक है जो कही नहीं जा सकती। बड़े प्रेम से लेकर प्रीति की गाँठ देकर उसे बाँध लिया है। जीवन का घना आनंद ही उसका मन्त्रोच्चारण है। वही राखी मेरे जीवन के लिये साक्षी-स्वरूप है (जब तक वह राखी बँधी रहेगी तभी तक मेरा जीवन सुरक्षित समझो)। मेरे नेत्रों ने तुम्हारे रूप की ऐसी राखी बाँधी है।

कहिये पाठक! कविता के सम्पूर्ण गुण इसमें हैं या नहीं? इसे अनेक बार पढ़िये और मनन कीजिये। फिर भी जब पढ़ियेगा तब ताजा ही मजा मिलेगा।

'सरदार' कवि की अनूठी उक्ति सुनिये। नायक किसी परकीया से प्रेम-वश राखी बँधाने जा रहा है। इस अनुचित कार्य से रोकने के लिये स्वकीया की सखी नायक से कहती है—

सवैया।

साजन पूरन मास भये यह कौन रसा चित में अभिलाषी।
छोड़त प्रानपिया अपनी परभूमि तकावन की मति नाखी॥

ए 'सरदार' विचार करौ किन का सुधि बुद्धि सबै सुधि नाषी।
साखी दै देवन को कर मे धरि राखत हौ पर की बरी राखी
॥ ९२ ॥

हे लाल! सावन की पूर्णिमा को आपने यह कैसी अनुचित अभिलाषा की है? अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर पर-भूमि (पर क्षेत्र, पर-स्त्री) ताकने की इच्छा हुई है, यह बात अच्छी नहीं। हे प्रभु, विचार करो, क्या तुम्हारी सारी धर्म बुद्धि नष्ट हो गई जो आज देवताओं को साक्षी देकर (मन्त्रोच्चारण-सहित) अपने हाथों में पर की वरी (वटी हुई, और विवाही हुई) और पर की राखी (अन्य पुरुष की भोगी हुई, और अन्य की राखी) धारण कर रहे हो, अर्थात् पर-स्त्री से रक्षा बँधाने मत जाओ, यह बात अच्छी नहीं, घर ही में रहकर अपनी प्राणप्रिया धर्मपत्नी से राखी बँधाओ।

कैसी कारीगरी है। 'वरी' और 'राखी' शब्दों में कैसा सुन्दर ओज है।

किसी विरहिनी की उक्ति सुनिये। कोई सखी नायिका से अनुरोध करती है कि पुरोहितजी से राखी बँधा लो। वह है विरहिनी, अत उसे यह उत्सव-पर्व अच्छा नहीं लग रहा है। वह कहती है—

कवित्त।

ने रौ तुन सजन तिहारे हठ सजन कै
पावक सो जावक हौं पायन दियाइ हौं।
सूही सिर सारी डारी फूलि हौं हिंडोर माँझ
धीरे से सुरन कछु गुन गन गाइहौं॥

हठ नहिं कीजे हहा राखी कर बाँधिवे की
सुनहु सयानी याको भेद हौं बताइहौं ।
मेरे तन ग्राम ब ठो विरह नरेश 'राम'
ह्वै है चिरजीवी याते भूलि ना बँधाइहौं ॥ ९३ ॥

हे सखी ! तेरे अनुरोध से मैं मजन करके अंजन लगा लूँगी, महावर भी लगवा लूँगी, सूही साड़ी पहनकर भूले पर भी भूलूँगी, अच्छे धीमे स्वर से प्रियतम के कुछ गुण भी गा दूँगी, पर राखी बाँधने की मत हठ करो । बात यह है कि मेरे तन-रूपी ग्राम में विरह-रूपी राजा आ बैठा है । यदि राखी बँधाऊँगी तो वह (विरह) चिरजीवी हो जायगा, अत मैं भूलकर भी ऐसा काम न करूँगी ।

---

(३७) लज्जा ।

स्वकीया की प्रेम-जनित लज्जा भी एक अनोखी चीज है । इसपर एक कवि की उक्ति सुनिये । प्रश्न यह है कि स्वकीया अपने पति को नजर भरकर क्यों नहीं देखती—

दोहा ।

यहि डर दृग नहिं लखि सकत सूधे मोहन ओर ।
बदन-कमल पै गड़हिंगी बरुनी अनी कठोर ॥ ९४ ॥

(उत्तर यह है कि) इस डर से कि नायक के सुकोमल कमलवत् मुख पर कठोर बरुनी-अनी न गड जाय, नेत्र उस प्राणप्रिय नायक की ओर नहीं देख सकते ।

नायक की सुकुमारता को सराहें, या नायिका के प्रेम तथा उसकी लज्जा का उल्लेख करें, या उस कवि की प्रतिभा की प्रशंसा करे जिसने ऐसे सुन्दर भाव को इतने थोड़े शब्दों में रख दिया है, कुछ समझ में नहीं आता। दूसरे के अगाध हृदय-सागर में पैठकर सुन्दर भाव-मुक्ता निकाल लाना ही तो कवि का काम है।

---

(३८) वाटिका।

'दीन' कवि जनक-वाटिका में सर्वदा षटऋतु का सामान दिखलाता है—

कवित्त।

सघन लतान सों लखात बरसात छटा,
सरद सोहात खेत फूलन की क्यारी में।
हिम ऋतु काल जलजाल के फुहारन में
सिसिर लखात जात पाटल कतारी में॥
सौरभित पौन तें बसंत सरसात नित
ग्रीषम लौं दुखदह सोरै चटकारी मे।
'दीन' कवि शोभा षटऋतु की निहारी सदा
जनककुमारी की पियारी फूलवारी में॥९५॥

सघन लताओं के कारण वर्षा का सा अँधेरा है, मकरंद वर्षा सम बरसता है, अत बरसात की छटा भी है।

श्वेत पुष्पों की छटा से शरद का सुहावना समाँ दृष्टिगोचर होता है, जल के फौवारों की अधिकता से जाड़ा लग उठता है; अत हिमऋतु का मजा आ जाता है। पाटल पुष्प की रौसों में शिशिर का दृश्य दिखलाई देता है। सुगंधित पवन से वसंत सा जान पड़ता है। ग्रीष्म की तरह वह फुलवारी दु ख-रूपी सरोवर को सोख लेती है। अत प्रमाणित होता है कि जनकदुलारी (सीताजी) की प्यारी पुष्प-वाटिका में सदैव छहों ऋतुओं की बहार रहती है।

नोट—केशवदास-कृत 'रामचन्द्रिका' में दशरथ की पुष्प-वाटिका का वर्णन भी पढ़ने-योग्य है। पाठक उसे अवश्य पढ़े।

---

(३९) शराब।

'दीन' की उक्तियाँ देखिये—

महुवे की सालजादी है काफी कबाब की।
इसने जहान भर की है इज्जत खराब की॥
जाहिर है बात इसके कड़े रोब दाब की।
बस फाड़ दे'रा पाई जो इसके नकाब की॥
सब बात भूल जाती है रोजे-हिसाब की।
मनमोहनी है यार य सूरत शराब की॥ ९६॥
यह मुँहलगी कि होश हवा हो गया तमाम।
हिम्मत हेराई भूल गया सारा काम धाम।

धड़का जो दिल तो काँपे क़दम गुम हुआ कलाम।
भागी हया तो डूब गया याय का भी नाम॥
क्यों बात मानते नहीं अपनी किताब की।
मनमोहनी है यार य सूरत शराब की॥ ९७॥

बहुतों का इसके हाथ दिवाला निकल गया।
बहुतों का पैर जमके यकायक फिसल गया॥
बहुतों का ऐसे पानी से ईमान जल गया।
बहुतों की शान बह गई अरमान गल गया॥
जो बात की खुदा की कसम लाजवाब की।
मनमोहनी है यार य सूरत शराब की॥ ९८॥

(४०) श्रवण।

'रसनिधि' जी 'श्रवण' शब्द की व्याख्या यों करते हैं—

दोहा।

श्रवत रहत मन दिसि सदा मोहन गुन अभिराम।
ताते पायो रसिकनिधि श्रवन सोहायो नाम॥ ९९॥

ये कान मनमोहन के गुणानुवाद मन की ओर टपकाया करते हैं, इसीसे इनको 'श्रवन' ऐसा सुन्दर नाम मिला है।

'रहीम' जी मुक्ता और वारी (बाली, और एक जाति विशेष) शब्द में चोज पैदा करते हैं—

बरवै।

मुकुतनि को सँग लीन्हे श्रुति कहवाय।
बारिन के सँग विहरत बड़ अन्याय ॥ १०० ॥

ये कान मुक्तों (मोती, मुक्त लोग) को साथ लिये हुए और श्रुति (वेद) कहलाकर भी बारिन (बालियाँ, बारी जाति की स्त्री) के साथ विहार करते हैं। यह बड़ा अन्याय है।

शब्दों में मनोहर चोज निकालना ही तो प्रतिभा-शाली कवि का लक्षण है।

---

(४१) साइकिल।

'किशोर' कवि की उक्ति सुनिये—

कवित्त।

ठौर ठौर मारी फिरै नगन शरीर छीन,
धूर धूसरित सी लपेटे तन छार है।
अन्न जल ते ना भेंट होत है 'किशोर' कवौ,
जीवन को एकमात्र पौन ही अधार है॥
ठाढ़ी होत लखि लोग, लात के अघात सहै,
छीव लें के भागै झक्कनात बेकरार है।

बौरी, कै वियोगिनी, कै कोऊ अवधूतिनी है,
कैधौं कोऊ कविकृत सैकिल विचार है ॥१०१॥

पगली, वियोगिनी, अवधूतिनी और साईकिल चारों में इसका अर्थ लग सकता है। अर्थ सरलता से निकल आता है।

नोट—गया-निवासी बाबू नन्दकिशोरजी एक नवयुवक होनहार कवि हैं। हमारे इसी सग्रह के लिये, हमारे कहने से, अभी हाल ही में, यह कविता लिखी है।

पुनः 'किशोर' जी की कारीगरी देखिये। आप धाय के गुण साइकिल में दिखलाते हैं—

कवित्त।

आठो जाम सीत घाम चित्त में न लावै कछू,
रातोदिन मेरो मन जोहत रहति है।
तनक इसारा पाय गोद मे चढ़ाय लेत,
मेरी मनमानी करि आनँद लहति है॥
हाथ लै कै हाथन खेलावै औ घुमावै मोहिं,
लात मारौ तौ हू मन मोद ही गहति है।
धाइ के सुगुण ये बखानत 'किशोर'? नाहीं,
बुद्धि साइकिल के सुचरित कहति है ॥ १०२ ॥

अर्थ सरल है। अपह्नुति अलङ्कार की छटा दर्शनीय है।

पुन 'किशोर' जी साइकिल को वेश्या-रूप में देखते हैं—

कवित्त।

रूपरंग गुणशील कछू को विचार नाहीं,
चित्त माहिं राखै एक दाम ही सो काम है।
जाके हाथ पैसा होय सोई अपनावै ताहि,
लाज भय छोड़ि होत वाही की सुबाम है॥
रसिक 'किशोर' जोई रीति चढ़िबे की जानै,
रमै ताहि संग यामें कछू ना कलाम है॥
चढ़तै पटकि देत जोर ते अनारिन को,
बारवधू कैधौं बाइसिकिल ललाम है॥१०३॥

अर्थ सरल है। सन्देहालङ्कार उचित रीति से प्रयुक्त हुआ है।

पुन 'किशोर' जी साइकिल में नागिनी का सन्देह करते हैं—

मन्दाक्रान्ता।

दौड़ी जाती उदर बल से तीव्र फुत्कारकारी।
टेढ़ी मेढ़ी गति बहुरँगी नित्य वायू अहारी॥
जाती है जो चिहुँक सग में देख कोई अनारी।
यारो है साइकिल यह वा साँपिनी है सु-कारी॥१०४॥

अर्थ सरल है।

पुनः 'किशोर' जी साइकिल को पतिव्रता स्त्री का रूप देते हैं—

सवैया ।

पति पायन को हिय धारे रहै कर सो कर धारे विराजति है ।
भखि पौन पतिव्रत पालति है कटि पै इक किंकिणि साजति है॥
लखि सौंहें कोऊ मुख मोरि चलै कबहूँ कबहूँ मुख गाजति है ।
कह कोऊ पतिव्रत नारि 'किशोर' ? न, संकिल यौ छवि छाजति है ॥१०५॥

अर्थ सरल है ।

नोट—हम इन पाँचों उक्तियों के कथन पर "किशोर" जी को बधाई देते हैं । 'कविता मर गई', 'कविता का युग गया' इत्यादि बातें कहनेवाले देखें और अपने कथन की सत्यता जाँचे ।

जब तक मनुष्य में हृदय है और जबतक नयाविष्कारिणी शक्ति मनुष्य में रहेगी, तबतक कविता मर नहीं सकती । पर हाँ, कविता समझने और उसका मजा लेने के लिये स्निग्ध हृदय चाहिये ।

---

(४२) हाथी ।

हाथी के दो दाँत बाहर क्यों रहते हैं, इसका कारण 'रहीम' जी यों बतलाते हैं—

दोहा ।

बड़े पेट के भरन में है रहीम दुख बाढ़ि ।
याते हाथी हहरि कै दिये दाँत दुइ काढ़ि ॥ १०६ ॥

बड़े पेट को भरने के लिये बड़ा कष्ट (परतन्त्रता का) उठाना पड़ता है, इसीसे पस्त-हिम्मत होकर हाथी दो दाँत काढ़ देता है।

पुन हाथी अपने सिर पर धूल क्यों डाला करता है, इसका कारण भी 'रहीम' ही के मुख से सुनिये—

दोहा।

धूर उड़ावत सीस पर कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पतनी तरी सो खोजत गजराज ॥१८७॥

हाथी सिर पर धूल डालता है, इसका कारण 'रहीम' को यह जँचता है कि हाथी कदाचित् उसी धूल को ढूँढ़ा करता है जिसके स्पर्श से मुनि-पत्नी (अहिल्या) तर गई थी। शायद कहीं वह धूल मिल जाय तो मेरा भी तरन-तारन हो जाय।

कुवलया गज का एक दाँत कृष्ण ने उखाड़ लिया था। इसपर 'रसखान' जी कहते हैं—

सवैया।

कंस के क्रोध की फैल गई जब ही व्रजमंडल बीच पुकार सी।
आय गये तब हीं कछनी कसिकै नटनागर नन्दकुमार सी॥
द्वैरद को रद खैंचि लियो 'रसखानि' यहै मन माँहि विचार सी।
लागी कुठौर रहै लखि तोरि कलंक तमालते कीरति डार सी
॥ १८८॥

कंस के अत्याचार के कारण हाहाकार मचने से, उसके निवारण के हेतु, श्रीनन्दकुमारसिंह (सी = सिंह) कछनी काछकर आ गये, और द्वार पर द्वैरद (द्विरद =

हाथी) को अड़ा देख उसे पछाड़कर एक दाँत उखाड़ लिया। इस घटना से 'रसखान' के चित्त में यह कल्पना सी आई कि कलङ्क-तमाल में कीर्त्ति की डाल लगी देख और उसे कुठोर में लगी विचार कृष्ण ने तोड़कर हाथ में ले ली है।

कल्पना बड़ी मनोहारिणी है। 'रसखान' ही तो ठहरे।

कहीं कहीं गुरुता भी दुखदाई होती है। सुनिये—

दोहा।

औघट घाट पखेरुवा पीवत निर्मल नीर।
गज गरुवाई ते फिरैं प्यासे सागर तीर॥ १०९॥

औघट घाट में छोटे छोटे पक्षी तो पानी पी सकते हैं, पर हाथी अपनी गुरुता के कारण सरोवर के तीर रह कर भी, औघट घाट होने के कारण, पियासा ही रह जाता है।

एक दूसरा कवि भी वही बात कहता है—

दोहा।

प्यास सहत पी सकत नहिं औघट घाटन पान।
गज की गरुवाई परी गज ही के गर आन॥ ११०॥

प्यास सहता है, पर औघट घाट में पानी नहीं पी सकता। इस प्रकार हाथी की गुरुता ही उसके गले पड़ जाती है।

हाथी केला के वृक्ष बहुत तोड़ता है। इसका कारण सुनिये। कोई चतुर नायक बहाने से प्रियतमा के जंघों की प्रशंसा करता है—

दोहा।

तो पर ज़ोर चल्यो न कछु निबल अपनपो मानि।
केलन को तोरत करी जघन के सम जानि ॥ १११ ॥

जब तुझपर कुछ ज़ोर न चल सका और तुझने अपने को (गति में) पराजित पाया, तब ईर्षा से तेरे जंघों के समान समझकर हाथी केले के वृक्ष तोड़ता फिरता है।

इन सब उक्तियों में हाथी का स्वभाव अच्छी तरह वर्णित किया गया है। पशु-पक्षियों के स्वभावों का निरीक्षण करना भी कवि का काम है। निरीक्षण के फल को सौंदर्य में और माधुर्य्य में लपेटकर पबलिक के सामने रखना कवि का मुख्य कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य इन उक्तियों में भली भाँति निबाहा गया है। यही इनमें खूबी है।

---

(४३) हुक्का।

ज़रा सुनिये, एक कवि कहता है—

दोहा।

याही ते यहि आदरै जगत माहिँ सब कोय
बोलै जबै बोलाइये अनबोले चुप होइ ॥ ११२

हाथी) को अड़ा देख उसे पछाड़कर एक दाँत उखाड़ लिया। इस घटना से 'रसखान' के चित्त में यह कल्पना सी आई कि कलङ्क-तमाल में कीर्त्ति की डाल लगी देख और उसे कुठौर में लगी विचार कृष्ण ने तोड़कर हाथ में ले ली है।

कल्पना बड़ी मनोहारिणी है। 'रसखान' ही तो ठहरे।

कहीं कहीं गुरुता भी दुखदाई होती है। सुनिये—

दोहा ।

औघट घाट परेरुवा पीवत निर्मल नीर।
गज गरुवाई ते फिरैं प्यासे सागर तीर॥ १०९॥

औघट घाट में छोटे छोटे पक्षी तो पानी पी सकते हैं, पर हाथी अपनी गुरुता के कारण सरोवर के तीर रह कर भी, औघट घाट होने के कारण, पियासा ही रह जाता है।

एक दूसरा कवि भी वही बात कहता है—

दोहा ।

प्यास सहत पी सकत नहिं औघट घाटन पान।
गज की गरुवाई परी गज ही के गर आन॥ ११०॥

प्यास सहता है, पर औघट घाट में पानी नहीं पी सकता। इस प्रकार हाथी की गुरुता ही उसके गले पड़ जाती है।

हाथी केला के वृक्ष बहुत तोडता है। इसका कारण सुनिये। कोई चतुर नायक बहाने से प्रियतमा के जघों की प्रशंसा करता है—

दोहा।

तो पर ज़ोर चल्यो न कछु निबल अपनपो जानि।
केलन को तोरत करी जघन के सम जानि॥ १११॥

जब तुझपर कुछ ज़ोर न चल सका और तुमने अपने को (गति में) पराजित पाया, तब ईर्षा से तेरे जघों के समान समझकर हाथी केले के वृक्ष तोडता फिरता है।

इन सब उक्तियों में हाथी का स्वभाव अच्छी तरह वर्णित किया गया है। पशु-पक्षियों के स्वभावों का निरीक्षण करना भी कवि का काम है। निरीक्षण के फल को सौंदर्य में और माधुर्य में लपेटकर पबलिक के सामने रखना कवि का मुख्य कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य इन उक्तियों में भली भाँति निबाहा गया है। यही इनमें खूबी है।

---

(४३) हुक्का।

ज़रा सुनिये, एक कवि कहता है—

दोहा।

याही ते यहि आदरैं जगत माहिं सब कोय।
बोलै जबै बोलाइये अनबोले चुप होइ॥ ११२

हाथी) को अड़ा देख उसे पछाड़कर एक दाँत उखाड़ लिया। इस घटना से 'रसखान' के चित्त में यह कल्पना सी आई कि कलङ्क-तमाल में कीर्त्ति की डाल लगी देख और उसे कुठौर में लगी विचार कृष्ण ने तोड़कर हाथ में ले ली है।

कल्पना बड़ी मनोहारिणी है। 'रसखान' ही तो ठहरे।

कहीं कहीं गुरुता भी दुखदाई होती है। सुनिये—

दोहा।

औघट घाट पखेरुवा पीवत निर्मल नीर।
गज गरुवाई ते फिरैं प्यासे सागर तीर॥ १०९॥

औघट घाट में छोटे छोटे पक्षी तो पानी पी सकते है, पर हाथी अपनी गुरुता के कारण सरोवर के तीर रह कर भी, औघट घाट होने के कारण, पियासा ही रह जाता है।

एक दूसरा कवि भी वही बात कहता है—

दोहा।

प्यास सहत पी सकत नहिं औघट घाटन पान।
गज की गरुवाई परी गज ही के गर आन॥ ११०॥

प्यास सहता है, पर औघट घाट में पानी नहीं पी सकता। इस प्रकार हाथी की गुरुता ही उसके गले पड़ जाती है।

हाथी केला के वृक्ष बहुत तोड़ता है। इसका कारण सुनिये। कोई चतुर नायक बहाने से प्रियतमा के जंघों की प्रशंसा करता है—

दोहा।

तो पर जोर चल्यो न कछु निबल अपनपो मानि।
केलन को तोरत करी जघन के सम जानि ॥ १११ ॥

जब तुझपर कुछ जोर न चल सका और तुझसे अपने को (गति में) पराजित पाकर, तब ईर्षा से तेरे जघों के समान समझकर हाथी केले के वृक्ष तोड़ता फिरता है।

इन सब उक्तियों में हाथी का स्वभाव अच्छी तरह वर्णित किया गया है। पशु-पक्षियों के स्वभावों का निरीक्षण करना भी कवि का काम है। निरीक्षण के फल को सौंदर्य में और माधुर्य में लपेटकर पबलिक के सामने रखना कवि का मुख्य कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य इन उक्तियों में भली भाँति निवाहा गया है। यही इनमें ख़ूबी है।

---

(४२) हुक्का।

ज़रा सुनिये, एक कवि कहता है—

दोहा।

याही ते यहि आदरै जगत माहिँ सब कोय।
बोलै अबै बोलाइये अनबोले चुप होइ ॥ ११२ ॥

इसी कारण संसार में हुक्के का सम्मान होता है कि यह बड़े गंभीर स्वभाव का है। जब बोलाओ तब बोलता है, नहीं तो चुप मारे बैठा रहता है।

एक दूसरे महाशय उससे भी बढ़कर बात कहते हैं—

दोहा।

हुक्का सो कहु कौन पै जात निबाहो साथ।
जाकी स्वाँसा रहत है लगी स्वाँस के साथ॥ ११२॥

हुक्के की भाँति मित्रता का निर्वाह कौन कर सकता है? हुक्के की दम पीनेवाले की दम के साथ लगी रहती है (पीनेवाले की दम से जीवित रहता है), अर्थात् पीनेवाले की कश के साथ बोलता है, फूँक बन्द करते ही मानो मर जाता है।

अच्छी सूझ है।

इति।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	५	चल्यो	थक्यो
१२४	७	चन	चैन
१२७	२१	शकल	सकल
१२८	१३	मानहु	मनहु
१३२	११	पानिय	पानिप
१४०	५	सरज	सूरज
१५८	२१	बसति	बसत
१६१	२३	और	औ
१६३	२०	पिउवानी	पिउवानी सौं
१७१	५	तसी	तैसी
,,	७	की	कि
,,	२१	को	के
,,	२३	घन	घनै
१७३	१७	भयक	मयक
१७६	१८	नवारन	न वारन
१७७	१२	भेंट	भेंटू
१७८	४	अचन	अचैन
१७९	११	तरवत	तखत
१८०	२	नीर	तीर
१८९	१७	चोवा	चोवा]
१९०	१२	,,	,,
२००	८	ऊर्वे	ऊर्वें
२०३	१५	भयें	भायें
२०५	१९	बागे	बाग
२४०	११	प्रगसन	प्रसगन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४७	४	न छत्र	नछत्र
,,	११	सीसकाला	सीतकाला
२४८	१७	क्या होती	क्या दशा होती
२५०	२	पक जिनी	पंकजिनी
२५२	२३	उन्त्रियां	इन्त्रिया
२५७	१४	हीनने हीन	हीन नेहीन
२६६	५	बारह	बारह्व
,,	७	जौं	जी
२७२	१८	विज्ञ	विज्जु
२८०	६	श्रुतसेवी	श्रुतिसेवी
२८२	१	अजीत	अजीन
२८६	१४	सोभति	सोभित
२८७	८	छुवै	छुवं
३०१	६	पैं	पै
३१७	१५	प	पै
,,	१६	घटउचकत	घटउतकच
३२२	१०	गोकुल जी	गोकुल की
३२४	४	सुसाई	सुहाई
,,	२५	झमि झूमि	झूमि झूमि
३४२	१०	ज्यों त्यों	ज्यों ज्यों
३४७	५	स्वर्ण	सुवर्ण
३५५	१२	वृषभानु जाको	वृषभानुजा को
,,	१३	चोर	चोरै
३५८	१६	(अतिम) सुगध	लैकै
,,	१७	लैकै	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५४	१७		('प्रकास' के बाद) लैकै
३७३	१६	कृष्ण	कृपा
३७५	२४	उगा	ठगा
३७६	२३	वेगि	वेलि
,,	२४	हूँ दु	दु हूँ
३६५	६	के	को
३६७	११		('दुलारो' के बाद) ?
४०८	१२	सरि	सहि
४१७	११	को	की
४२१	१६	जोव	जोवै
,,	१७	रोव	रोवै
,,	१८	धोव	धोवै